सहजानंद शास्त्रमाला

पंचास्तिकाय संग्रह प्रवचन

भाग 2

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

दिगम्बर जैन मन्दिर इन्दौर छावड़ाजी की नसीया, गांधीनगर

पञ्चास्तिकाय प्रवचन

प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग

प्रवक्ता:
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।

प्रथम संस्करण १०००]   सन् १९७५   लागत [१३) रु०

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

•••○O○•••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पंचास्तिकाय प्रवचन द्वितीय भाग

प्रवक्ता—**अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ**
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

जीवद्रव्यको विशेष व्याख्यानका आशय—इस ग्रन्थमें पंचअस्तिकायोंका वर्णन है, जिसकी भूमिकामें ५ अस्तिकायोंका वर्णन कर दिया गया है। उन्हीं अस्तिकायोंमें से उनका ही अब विशेष वर्णन चलेगा। समस्त द्रव्योंमें प्रयोजनीभूत पदार्थ है जीवद्रव्य। हम आप सब जीव हैं। जीवकी ही समस्या सुलझानेके लिए हम अन्य समस्त पदार्थोंका भी ज्ञान किया करते हैं। कोई पुरुष अन्य पदार्थोंका तो खूब परिचय करे और एक अपने आपका परिचय न करे तो उसने ज्ञानका प्रयोजन और लक्ष्य ही नहीं पाया। कोई पुरुष समस्त अचेतनका भी वर्णन सीख जाय, जीवद्रव्यकी बातें करने लगे, किन्तु अपने आपका स्वरूप न समझे तो उसने भी कुछ नहीं किया। अंतस्तत्वका ज्ञान करना—यह ज्ञानका प्रयोजन है। इसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए विशेष व्याख्यानोंमें सर्वप्रथम जीवद्रव्यका वर्णन किया जा रहा है।

चेतयिता—जीव कैसा है ? जीवका लक्षण बतानेके प्रसंगमें एक व्यापक दृष्टि रख कर कहा जा रहा है। कुछ बातें संसारी आत्मामें घटित होंगी कुछ बातें मुक्त आत्मामें घटित होंगी, कुछ बातें संसारी और मुक्त जीवोंका ख्याल न रखकर उनकी अपेक्षा न करके एक निरुपाधि स्वरूपका वर्णन होगा। यह जीव चेतयिता है, चेतने वाला है। इस चेतयितृत्व स्वरूपमें न संसारी अवस्थाको छुवा गया है और न मुक्त अवस्थाको छुवा गया है। इसका सहजस्वरूप अपने आपकी सत्ताके कारण जो स्वरूप है वह है चेतन। यह जीव जब चैतन्यस्वरूपके परिचयमें नहीं लगता है तब अपने को नाना विशिष्ट उपयोगरूप मानता रहता है और नाना विशेषतावोंमें फंस जाने से इसकी दुर्गति होती है, संसारमें भ्रमण होता है।

अध्यात्मप्रसंगमें सामान्यका महत्त्व—लोकमें विशेषकी इज्जत मानी गयी है, साधारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की नहीं, यह तो जनरल बात है, इसमें क्या तत्त्व है, कोई स्पेशल बात कहो, लोकमें स्पेशल की कदर है, सामान्यकी इज्जत नहीं है, विशेषकी इज्जत है। किन्तु आत्मकल्याणके मार्गमें विशेषकी इज्जत नहीं है, सामान्यकी इज्जत है। जब जीवकी पर्यायोंका वर्णन किया जाता है, मार्गणा आदि विशेषतावोंका प्रतिपादन चलता है उस प्रसंगमें जीवका स्वरूप समझनेके लिए केवल इतना भी कह दिया जाता है कि देखो १ घंटे तक जो हमने कहा है ना, गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा और जितना विस्तार कहा है ना, वह सब नहीं है, बस समझ लो वह जीव है। लोकविस्तार बतानेमें घंटों समय लगाया और जीवको कहनेमें एक अक्षर बोलना पड़ा। यह नहीं, उस ही के साथ कुछ सत् सामान्य तत्त्व उसकी दृष्टिमें है, जिसको दृष्टिमें रखकर उस समस्तको मना कर रहा है वह है चेतन सामान्य। देखो—एक शुद्ध आत्माका आलम्बन लो, यों उपदेशमें बोल लेते हैं ना या वस्तु पर्याय वस्तुका आलम्बन ले। पर्याय है विशेष और स्वभाव है सामान्य। आत्मकल्याणके मार्गमें सामान्यकी पूछ है, विशेषकी नहीं है। यह जीव चेतयिता है।

जीवत्वका मंडन—भैया! प्रथम तो यह ही देखिये। जीव है, है के समर्थनमें बहुतसे मर्म आ जाते हैं। यह आत्मा अथवा यह जीव है। शुद्ध निश्चयसे देखा जाय तो ये चैतन्य अथवा ज्ञान आदिक सामान्यस्वरूप शुद्ध प्राणोंसे जीवित रहते हैं। अतः इसका नाम जीव है। शुद्ध दृष्टिमें निरखा जा रहा है कि जो शुद्ध चैतन्य प्राणोंसे जीवित रहे उसका नाम जीव है। यों तो एक दृष्टिमें यों निहार सकते हैं कि जीव, आत्मा और परमात्मा। इन तीन शब्दोंसे हम एक इस चेतनको तीन पर्यायोंमें निरखते हैं। जीवके कहनेसे जो द्रव्य प्राणोंसे जीता है, जो भवोंको धारण कर रहा है, जहाँ जीने व मरनेका व्यवहार किया जाता है वह जीव है। यह जीवित है, अब यह मर गया है, ऐसा जीना जिसमें हो उसे जीव कहते हैं। ऐसा जीवन जिसका एक काम बन गया है वह जीव कहलाता है — बहिरात्मा। तो जीव शब्दसे अर्थ लेना बहिरात्मा। और आत्माका अर्थ है जो जाने सो आत्मा। जो व्यापकरूपसे जाने उसे आत्मा कहते हैं, ऐसा होता है सम्यग्दृष्टि पुरुष। और परमात्मा कहते हैं उसे जो वीतराग सर्वज्ञ शुद्ध हो चुका हो। यों इन तीन शब्दोंको जब हम इस ढंगसे रखते हैं तो इन तीनोंका आधारभूत जो तत्त्व है उसका नाम है ब्रह्म।

ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा व जीव—इस आत्माके ज्ञानके प्रकरणमें चार चीजें समझिये—ब्रह्म, जीव, आत्मा और परमात्मा। ये चार बातें अन्य सम्प्रदायोंमें भी बहुत प्रसिद्ध हैं, लेकिन उनके ख्यालसे जो इन चारों तत्त्वोंका स्वरूप उनकी दृष्टिमें आता है, उसे स्याद्वादसे लगायें तो इस प्रकारका रूपक बनता है कि ब्रह्म तो है एक चैतन्यस्वरूप जो समस्त पर्यायोंमें व्यापक है व एक स्वरूप है। जैसे किसी व्यक्तिकी प्रशंसा करे कोई तो व्यक्तिका नाम न लेकर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किसी भाव या विशेषताका नाम लेकर कहा जाता है। जैसे कोई प्रशंसा करता है—अमुक चंदने समाजपर बहुत प्रभाव डाला है। अब अमुक चंदका नाम न लेकर यह भी कह सकते हैं कि इस धर्मात्माकी किरणने समाजपर बड़ा प्रभाव डाला है। ऐसे ही जब हम व्यक्ति रूपमें जीवोंको न तकें और एक चैतन्यस्वरूपके रूपसे तकें तब हमें वहाँ नानापन नजर न आयगा। अब यों यह ब्रह्म एक हो गया और सर्वव्यापक हो गया।

अद्वैतसे द्वैतका प्रसार—उस एक ब्रह्मके जब हम भेदभावमें आते हैं, द्वैतभावमें आते हैं तो हमें जीव, आत्मा, परमात्मा—ये तीन शक्लें नजर आती हैं। यथार्थ ज्ञानी पुरुष जब एक सहजस्वरूपके परिचयमें मग्न हो गया है तो वह अद्वैत बन गया है, उसके उपयोगमें अद्वैत है, वह स्वयं निर्विकल्प है। अथवा जैसे अद्वैत निर्विकल्प तत्त्वके परिचयमें लगा है, देख रहा है, यह केवल एक प्रकाशमात्र है। ठीक, जब उसका यह कुछ एक्सपोजीशन करने चला तो वहाँ द्वैत उत्पन्न हो गया। है तो यह प्रकाश, मगर प्रकाशका अर्थ क्या है? प्रकाशक और प्रकाश्य—ये दो बातें माने बिना प्रकाशका स्वरूप समझमें नहीं आता। अरे कोई प्रकाश करने वाला है, कोई चीज प्रकाशमें आ रही है, इतना ध्यानमें न हो तो प्रकाश नाम किसका है? यों अब द्वैतमें आया प्रकाशक और प्रकाश्य अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय। अब जब द्वैतका सिलसिला लग उठा है तो द्वैतमें द्वैत फूट-फूटकर यह विकल्पोंका जाल मच गया है। मूलमें इसका एक ही स्वरूप है जो स्वयं निर्विकल्प और अद्वैत है।

जीवका प्रकाश—यह जीव शुद्ध निश्चयसे शुद्ध चैतन्यप्राणसे जीवित है, अतएव जीव कहलाता है, और अशुद्ध निश्चयसे ये क्षायोपशमिक ज्ञान आदिक प्राणोंसे जीता है इसलिए जीव कहलाता है, अथवा इन द्रव्य प्राणोंसे कोई जीवित था पहिले, वह जीव अब शुद्ध है तो भी वह जीव है। यों जीव शब्दकी हम चतुर्मुखी दृष्टि बनाते हैं तो यह आत्मा नाना रूपोंमें प्रकट होने लगता है। यह जीव है, यह मैं हूं, ऐसा कह-कहकर भी इसका भान नहीं कर पाते हैं। अन्य-अन्य पदार्थोंमें नाना भावोंमें मैं हूं ऐसा कोई भान करे तो वह 'मैं' का भान नहीं कहलाता। जो मैं हूं उसका ही भान बने तो मैं का भान समझियेगा। जगतके ये समागम मकान, महल, परिजन ये सब विनश्वर हैं, स्वयं मायारूप हैं, स्वयं ही सारभूत नहीं हैं, परमार्थ नहीं हैं। इनके समागममें मुग्ध होना और अपने आपके उस विशुद्ध स्वरूपको भूल जाना, यह अपना ही घात किया जा रहा है।

विविक्तत्वके श्रद्धानकी आवश्यकता—धर्मके प्रसंगमें हम तब तक नहीं आ सकते हैं जब तक हम अपनेसे भिन्न समस्त परपदार्थोंका लगाव श्रद्धामें न छोड़ दें। हमारी श्रद्धा ऐसी निर्मल होनी चाहिए कि इस चैतन्यस्वरूपको छोड़कर अन्य परभाव मेरे विस्तार नहीं हैं। जब विभाव भी मेरे नहीं, तब अन्य प्रकट भिन्न चेतन अचेतन परपदार्थोंकी तो कहानी ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्या हो ? समयसारमें बताया है कि परमाणुमात्र भी राग जिसके हो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। उसका प्रयोजन है श्रद्धामें, परमाणुमात्र भी राग जिसके हो अर्थात् रंच रागको भी जो अपना स्वरूप मानता हो कि यह मैं हूं, वह पूरा अज्ञानी है, चाहे उसने बड़े-बड़े शास्त्रोंका परिज्ञान कर लिया हो, लेकिन अपने आपके बारेमें रंच राग आया हो, अपना हित, अपना महत्त्व माना हो वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि जीव है।

निर्मल स्वभावके दर्शन बिना जीवनकी विफलता—भैया ! श्रद्धामें तो अपनेको निर्मल बना ही लो, अन्यथा यह मनुष्य भव पाना बेकारसी बात रही। विषयोंके भोग, मनकी मौज सूकर कूकर, घोड़ा, हाथी अथवा बैल और और कीड़े-मकोड़े, इन भवोंमें नहीं मिल रहे थे क्या ? जितना प्रिय मनुष्योंको हलुवा पूड़ी होती होगी उतना ही प्रिय ऊँटोंको नीमकी पत्ती होती है। जो जिस भवमें है उस भवके अनुकूल जो जितना भोजन है उसे वह ही प्रिय है। केचुवा आदिक कीटोंको मिट्टी ही बहुत प्रिय लगती है। वे मिट्टीका भक्षण करके मौज मान रहे हैं। आज मिल गया इतना ठाठ, खान-पानका साधन तो यह क्या है ? मिट्टीकी तरह है, कोई जीव मिट्टीको पसंद करते हैं। यहाँ दो पैरोंपर खड़े होने वाले जानवरोंने हलुवा पूड़ी पसंद किया है। देखो सुनकर बुरा न मानना। जानवर कहलाता है वह, जो ज्ञानमें श्रेष्ठ हो। जान मायने ज्ञान, वर मायने श्रेष्ठ। जिसके ज्ञान श्रेष्ठ हो उसका नाम जानवर है। जानवर शब्द उच्च है, किन्तु किसी मूर्ख आदमीको उच्च शब्द बोल दिया जाय तो वह शब्द गाली कहलाने लगता है।

चेतनाकी व्यक्तियां—प्रकरण चल रहा है कि यह आत्मा चेतयिता है। चेतना तीन रूपोंमें होती है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। चेतनाका काम है सबका सम्वेदन करना। मैं हूँ, इस प्रकारकी चेतना बनाये रहना चेतनाका काम है। जो कोई जीव मैं एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकारकी चेतना करता है तो उसे कहते हैं ज्ञानचेतना वाला। कोई जीव अपनी करतूतमें चेतना लाता है—ज्ञानके सिवाय अन्य जीवोंका मैं कर्ता हूं, इस प्रकार कर्तृत्वकी बात लाता है तो उसे कहते हैं कर्मचेतना वाला। इस जीवने अपने आपको कर्मरूप में, कर्मठ रूपमें चेता। अथवा यह आत्मा इन कर्मोंरूप नहीं है, वह शुद्ध ज्ञानचेतना रूप है। इस कारण जो कर्मचेतना रखता है उसको अज्ञानी कहा गया है। कोई जीव अपने आपको भोगनेके रूपमें चेतता है, मैं विषयको भोगता हूं। एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त अन्य भावों को भोगनेकी बात जो चित्तमें लाता है, चेतता है उसे कहते हैं कर्मफलचेतना वाला। चेतनाकी की बात चूंकि जीवमें ही हो सकती है, अतएव इसे चेतयिता कहते हैं।

उपयोगविशेषितता—पूर्व भूमिकामें छहों द्रव्योंका वर्णन था और वह सामान्य रूपसे था। जो बात सबमें घटित हो वह बात कही गयी थी। अब इस प्रसंगमें जीवतत्त्वकी बात

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कह रहे हैं। यह जीव है, यह जीव चेतयिता है और यह उपयोग विशेषित है, उपयोग नाम है यूजका, प्रयोग करनेका। ज्ञानशक्ति है तो ज्ञानशक्तिको काममें लाना, इसका नाम है उपयोग। अब जो जीव जिस प्रकारके उपादान वाला है वह अपनी ज्ञानशक्तिका उस प्रकारसे उपयोग करता है और यों इसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये ५ भेद हो जाते हैं। इन पाँचोंमें निश्चयसे तो यह केवलज्ञानरूप उपयोगसे विशेषित है और अशुद्ध निश्चयसे मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय—इन चार क्षायोपशमिक उपयोगोंसे विशेषित है। यह जीव है, चैतन्यशक्ति वाला है, और इस चैतन्यशक्तिका कुछ न कुछ उपयोग प्रतिसमय बनाये रहता है।

जीवकी निर्नामता—यह मैं जीव हूं, मुझ जीवमें कोई नाम नहीं खुदा है, सब लोग सोच लो। जो आज नाम रक्खा है किसी ने, किसी दिन रख दिया है? कदाचित इन शब्दों का नाम न रक्खा होता, कोई दूसरा नाम होता तो कोई उसमें यह बाधा आती थी क्या कि यह नाम फिट नहीं बैठता और कुछ नाम धर दो। इसका तो जो नाम धर देने हैं उसीको फिट बैठानेकी आदत है। अर्थात् उस प्रकारका व्यामोह है। कोई नामका सम्बन्ध नहीं है इस जीवके साथ। यह तो है एक जीव। जिसमें कि इस प्रकारका उपयोग चलता है, राग द्वेष मोह परिणाम चलते हैं ऐसा है यह। इसका नाम जो रखना है रख दीजिए।

प्रभुता—यह आत्मा प्रभु है। प्रभु किसे कहते हैं? प्रकृष्ट रूपेण भवति इति प्रभुः। प्र मायने बड़ी तेजीसे भू मायने होवे उसका नाम प्रभु है। यह जीव प्रभु है। इसमें बड़ी सामर्थ्य है। यह शुद्धताकी ओर जाय तो अपना इतना चमत्कार फैलाता है कि तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थोंको एक समयमें एक साथ स्पष्ट जान जाता है। है ना बहुत बड़ा चमत्कार, और यह जीव जब बिगड़ता है तो बहुत बड़ा प्रभाव फैलाता है। न जाने क्यासे क्या कर डालें। तो यह जीव प्रभु जब बिगड़ता है और बिगड़कर मानो किसी विशाल वृक्षके रूपको अंगीकार करता है तो तने-तनेमें, पत्ते-पत्तेमें प्रत्येक नसावोंमें और कैसी-कैसी ऊट-पटांग डालियोंमें फैल जाता है। कोई कुछ ढंग है क्या फैलानेका? किसी भी तरह फैल जावे। उनके फूल और फूलोंमें भी जो मकरकंद होता है तंतुकी तरह बिल्कुल पतला, ऐसे इन तंतुवों में इन सबमें यह एक ही जीव कैसा फैल जाता है? यह क्या कम चमत्कार है। यह बिगड़ता है तो ऐसे-ऐसे चमत्कार दिखाता है और जब यह सम्हलता है तो केवलज्ञान जैसा चमत्कार दिखाता है।

बाहरी बहादुरी—यह जीव प्रभु है। एक तरहसे देखो, चाहे मजाककी दृष्टि समझ लो और चाहे एक विशेष चिन्तनाकी दृष्टि समझ लो। सिद्ध भगवान बनकर जो चमत्कार फैलाया, उसमें उनकी क्या तारीफ है? वह तो उनका स्वरूप है। सीधीसी बात है, सीधासा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

खेल है वह तो । केवलज्ञानी होना, लोकाकाशका प्रकाश करना, यह तो सीधासा खेल है। स्थावर बनकर नाना तरहके त्रस बनकर ढंग-बेढंगे शरीरोंको धारण कर, नाना प्रकारके भव पाकर अपना विचित्र विस्तार बनाया, बहादुरी तो इसमें है जीवकी । सिद्ध बन गये सीधे-सादे, जैसा स्वरूप है तैसे बन गये, स्वाधीन हो गये, अकेले रह गये, इससे ज्यादा बढ़ाईकी बात तो इसमें होगी ना (हँसी) । संसारके प्रत्येक प्रदेशपर यह जन्म लेता है, मरण करता है, इतना सफर कर रहा है और इतनी तरहके विचित्र रूप रख रहा है, शायद इससे ज्यादा बहादुरी होगी ? खैर यहाँ दृष्टि यह कीजिये कि जीवको शान्ति प्रिय है, इस कारण बहादुरी तो सिद्ध बननेमें ही है, किन्तु एक परिणतिकी दृष्टिसे देखा जाय तो सर्वत्र परिणतियाँ छायी हुई हैं। शुद्ध निश्चयसे तो मोक्ष और मोक्षके कारणभूत शुद्ध परिणामोंसे परिणमनेमें समर्थ है, अतएव प्रभु है और अशुद्धनयसे यह नाना संसारी पर्यायोंसे परिणमता है, अतएव प्रभु हैं । अब जीवके सम्बंधमें कुछ और चर्चायें होंगी ।

अपनी सकल सृष्टियोंमें प्रभुता—यह जीव स्वयं प्रभु है । यों तो प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमनसे परिणमनशील है, अतएव सभी पदार्थ प्रभु हैं, किन्तु अचेतन पदार्थमें चेतनाशक्ति न होनेके कारण प्रभुता जैसी व्यवहारकी बात नहीं होती है । अतः यहाँ अन्यको प्रभुकी विशेषता न कहकर जीवमें प्रभुता बतायी जा रही है । यह जीव स्वय समर्थ है, अत-एव प्रभु है । प्रभु नाम समर्थ होनेका है । निश्चयसे तो यह जीव निज शुद्ध भावोंके परिणमनमें समर्थ है, और अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिक भावकर्मके परिणमनमें स्वयं ईश है, प्रभु है, और व्यवहारनयसे देखें तो द्रव्यकर्मोंका जो परिणमन होता है, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्षरूप जो पंचपर्यायोंमें कर्मोंका भी परिणमन होता है उसमें निमित्त समर्थ यही है । यों यह प्रत्येक स्थितियोंमें ईश है, अतएव यह जीव प्रभु है ।

प्रभुताके वर्णनमें शिक्षा—हमें इस प्रभुताके वर्णनसे यह समझ लेना चाहिए कि हम अपने दुःखमें किसी दूसरेपर विरोधकी दृष्टि क्यों डालें ? कोई भी परपुरुष मेरेमें दुःख उत्पन्न कर ही नहीं सकता । वह जो कुछ करेगा अपनेमें खुदमें करेगा, इससे बाहर उसकी करतूत नहीं है । ऐसी ही मेरी भी बात है । मेरी प्रभुता मेरे तक है, तब किसी परजीव पर अपने दुःखके विरोधकी दृष्टि करना मूढ़ता है । इस ही प्रकार किसी राग प्रेमके व्यवहारमें जो यह जीव सुख मानता है उस सुखकी परिणतिमें भी परजीवोंपर सुखदाताकी कल्पना करना मूढ़ता है । अरे आनंदशक्तिसे भरा हुआ यह आत्मा बिगड़ते-बिगड़ते कहाँ तक बिगड़े ? किन्हीं-किन्हीं प्रसंगोंमें अपनी ही आनन्दशक्तिका कुछ अंश मिल जाता है, उसीको यह जीव भोगता है, पर मोह लगा है, इस कारण परनिमित्तपर यह आरोप करता है कि मुझे इस परसे सुख मिला है, वस्तुतः परपदार्थोंकी ओर जो इसकी दृष्टि लगी, आकर्षण हुआ, इस बाह्यवृत्तिके कारण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आनन्दमें बाधा आयी है, आनन्द नहीं मिलता है ।

आनन्दप्रभुता—यह मैं आत्मा स्वयंके सुख दुःख और आनन्दके निर्वाणमें समर्थ हूं । मैं अपनी ही पर्यायोंको अपने ही परिणमनसे रचता रहता हूं, किसी अन्य निमित्तपर अन्य आश्रयपर दयनीय दृष्टि रखना—यह मेरा दाता है, यह मेरा कर्ता है, मेरी जान इसके आधीन है, मेरा भवितव्य इसीके ही हाथ है, ऐसी कायरता लेना, यह इस प्रभुको युक्त नहीं है । यह मैं आत्मा स्वयं समर्थ हूं, एक साहस चाहिए अन्तरङ्गमें । आनन्द तो चाहिए है ना । वह आनन्द जिस विधिसे मिले उस विधिके करनेमें क्यों शंका की जा रही है ? आनन्दप्राप्तिका उपाय एक केवल निज अंतस्तत्त्वसे नाता लगाना है, अन्य कोई उपाय नहीं है । जब किसी भी क्षण दृढ़ताके साथ समस्त परवस्तुवोंसे नाता तोड़कर श्रद्धामें तो अभी भी तोड़ा ही जा सकता है, परविविक्तता अङ्गीकार करके केवल अपने आपको देखना इसमें ही कैवल्यको सिद्धि है ।

कैवल्यकी दृष्टिमें अशान्तिका अभाव—भैया ! केवलपना अपने उपयोगमें आये वहाँ अशान्ति नहीं होती । जहाँ दूसरे लोग दृष्टिमें आयें वहाँ अशान्ति हो जाती है । किसीके इष्ट का वियोग हो गया हो तो वह इष्टका ख्याल कर-करके दुःखी होता है, यह दुःख परकी दृष्टिमें ही तो हुआ है । कोई मान लो रोते-रोते बहुत थक गया हो, कुछ विश्रामसे बैठा हो और इतने में अपने इष्ट मौसा-मौसी, फूफा-फूफी कोई बाहरसे आ जायें, जैसे कि फेरोंमें लोग आया करते हैं तो उनको दृष्टिमें लेते ही फिर यह और तेज रोने लगता है । किसी बाह्यकी दृष्टि करना नियमसे क्लेशके लिए होता है । यदि इतनी श्रद्धा नहीं है तो जैनधर्म माननेका और अर्थ ही क्या है ? पूजा, वन्दन, दर्शन, जाप, सत्संग, स्वाध्याय, गुरुसेवा आदि सबका और अर्थ ही क्या है ? मूलमें यदि यह श्रद्धा है कि बाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि करना ही बन्धन है, भ्रमण है, रुलना है, क्लेश है, पाप है । यह श्रद्धा हो तब तो उसके ऊपर, इस नींवपर धर्म महलकी भींत खड़ी हो सकती है । यह श्रद्धा नहीं है, कर्तृत्वकी वासना अन्दर पड़ी है तो फिर सब व्यर्थ है । धर्मकार्यका फिर अर्थ क्या रहा ?

अपनी बात—भैया ! अपनी बात अपनी भलाईके लिए अपनेपर दया करके दृढ़ताके साथ समझ लीजिए । इसमें कुछ आपका जाता है क्या ? यहीं बैठे ही बैठे अपने उपयोग द्वारा केवल एक अपने आपमें पहुंचें, और सब समस्याएँ हल कर ली जायें । यह मैं आत्मा चूंकि वस्तु हूं, इसलिए निरन्तर परिणमनशील होता हूं, एक क्षण भी मेरा परिणमन रुकता नहीं है, और उस परिणमनमें मैं ही समर्थ हूँ, कर्ता हूं, अन्य कोई मुझमें तादात्म्यरूपसे मिल-कर मेरा परिणमन नहीं करता है, ऐसी स्वतंत्रता, प्रभुता मुझमें है । यह श्रद्धा न हो तो फिर कल्याणके लिए आगे और कोई कदम नहीं हो सकता है ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवका कर्तृत्व—इस प्रकरणमें जीवद्रव्यका विशेष व्याख्यान चल रहा है। यह जीव परमशुद्धनिश्चयसे अकर्ता है, शुद्ध निश्चयसे अपने शुद्ध परिणामोंका कर्ता है, जो शुद्ध ज्ञानादिक भाव हैं उन भावोंका कर्ता है, और अशुद्ध निश्चयनयसे पुद्गल कर्मोंका निमित्त पाकर जो रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं उन रागादिक भावोंका कर्ता है और व्यवहारसे इन रागादिक भावोंके कारण जो कर्मबंध आदि होते हैं उन पौद्गलिक कर्मोंका कर्ता है। कैसी निमित्तनैमित्तिक योगके कारण गुत्थी बनी हुई है ? यह जीव पुद्गल परिणमनके निमित्त रागादिक करता है, इसके दो मुख्य अर्थ हो जाते हैं। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर रागादिक भावोंका कर्ता है और रागादिक भावोंका कर्ता कर्मबंधके निमित्त होता है अर्थात् रागादिक भाव करके ये कर्मबंध करेंगे। इसके विभावोंके कारण इसपर दोहरी मार पड़ रही है— आन्तरिक मार और बहिरङ्ग मार। आन्तरिक मारका नाम है घातिया और बहिरङ्ग मारका नाम है अघातिया। ये बहिरङ्ग साधन सीधे मेरा घात नहीं करते, किन्तु मेरा घात करने वाले परिणामोंके लिए सहायक साधन बनता है।

व्यामोह और बन्धन—अहो यह आत्मा अनन्त प्रभुशक्तिक होकर भी आज कैसा बन्धनमें जकड़ा हुआ है ? जकड़ा तो अनादिसे है, पर दृष्टिमें अब आया है। अबकी बात कही जा रही है। कैसा जकड़ा हुआ है ? कर्म और जीवका तो निमित्तनैमित्तिकयोगसहित एक क्षेत्रावगाही बन्धन है। मूढ़ताकी बात तो देखो—जो भिन्न क्षेत्रमें रहता है, अत्यन्त भिन्न है, जिसपर मेरा रंच भी अधिकार नहीं है, अपने-अपने कर्मोंको लिए हुए है, अपनी परिणतिसे अपनी दशाएँ बनाता फिर रहा है—ऐसे दो-चार जीवोंको अपना कुटुम्ब मानकर उपयोगमें केवल उनके लिए ही अपनेको मान रखा है। मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ इन परिजनोंके लिए है, बाकी जीव तो सब गैर हैं, यों व्यामोह कर रखा है। अरे उन गैरोंमें से फिर कोई जीव आज घरमें पैदा हो जाय तो वह भी इसकी कल्पनामें अपना बन गया और इन माने हुए अपनेमें से मरकर कोई दूसरी जगह, पड़ौसीके यहाँ पैदा हो जाय तो वह अब गैर हो गया। क्या बावलेपन जैसी बात है ? थोड़ी देरमें उसी जीवको अपना कह डाला, थोड़ी देर बाद उसी जीवको गैर कह डाला, गैरको फिर थोड़ी देर बाद अपना कह डाला, यह कैसा मोह का नशा चढ़ा हुआ है ? किसी बातपर टिक नहीं सकता यह जीव।

परका अकर्तृत्व—सांसारिक परिस्थितियोंमें भी यह जीव करने वाला किसी दूसरेका नहीं है। कहीं किसीको अपना मान लेनेसे अपना नहीं हो जाता। कभी किसी परपरिणतिका मैं कर्ता हूं, ऐसा मान लेनेसे कहीं यह उसका कर्ता नहीं हो जाता। यह तो सर्वत्र अपने ही परिणमनका कर्ता है। यदि अपना मान लेनेसे कुछ अपना हो जाय तो इस संसारीकी महिमा भगवानसे भी बड़ी हो जायगी। जो भगवान नहीं कर सकते उसे यह संसारी करके दिखा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहा है, पर ऐसा है ही नहीं। जैसा जो है वह भगवानके ज्ञानमें आता है। जो जैसा नहीं है वह ज्ञानमें नहीं आता। हम कल्पना कर-करके अपनेको उलझनमें डाल लें, यह मेरा है, यह मेरा है, डाल लें, पर भगवान तो यों नहीं जानते कि यह घर इनका है। आप कह रहे हो कि यह मेरा घर है और यहाँके १० आदमी भी कहते हैं कि यह घर इन साहबका है, पर क्या ऐसा भगवानके ज्ञानमें भी ज्ञात है कि यह घर इन साहबका है। यदि भगवान यों जान जायें कि यह घर इन साहबका है तो फिर यह ऐसी रजिस्ट्रीकी बात हो गयी कि समझो फिर वह घर उनका मिट नहीं सकता। सत्कारकी रजिस्ट्री तो काल पाकर फेल हो सकती है। सरकारकी भी नियत बदल जाय या कोई भी बात कर डाले। एक संकटकालका कानून होता है आपकी बनी बनाई हवेली कहो हड़प ले और कहे कि तुम जावो अन्य जगह रहो, यहाँ आफिस बनना है। लो अब तो कुछ बात भी नहीं रही। यह सब न कुछ चीज हो जायगी। भगवान जान लेवें कि यह घर इनका है तो फिर पचासों लोगोंसे बतानेकी जरूरत नहीं है। अरे जो असत्य है उसे भगवान नहीं जानते। यह अपनी कल्पनामें जो चाहे बात बनाकर रहे।

जीवका भोक्तृत्व—मैं केवल अपने परिणामोंका कर्ता हूं, अपना ही स्वामी हूं, इससे आगे मेरी कोई कला ही नहीं है। यह आत्मा कर्ता भोक्ता है—किसका, इसका निर्णय तो कर लो। यह आत्मा भोक्ता है निश्चयसे तो अपने शुद्ध आनन्द परिणामका भोक्ता है, जो अपने सत्त्वके कारण और अगुरुलघुत्व गुणके कारण स्वयंमें जो सहज बीत सकती है, ऐसी स्थितिका यह भोक्ता है, अनुभवन करने वाला है। अशुद्ध निश्चयनयसे पुण्य पाप कर्मोंका निमित्त पाकर जो जीवमें सुख दुःख परिणाम हुआ करते हैं उन सुख दुःख परिणामोंका यह भोक्ता है और व्यवहारसे इष्ट अनिष्ट विषयोंका भोक्ता है। जैसे कि लोग कहते हैं कि मैंने भोजन भोगा, मैंने अमुक चीज भोगी, सम्पदा भोगी, यह व्यवहारनयसे कहा जाता है। वस्तुतः यह जीव जो अपनेमें बात गुजरती है उसका ही भोगने वाला है, अन्य किसीका नहीं। भोजन करते समय जो कल्पनामें यह बात आयी यह बड़ा मीठा है, यह बड़ा स्वादिष्ट है, और कल्पनाएँ जगनेसे मौज मानता, वहाँ कल्पनाओंका सुख आ रहा है, वह भोजनमें से सुख नहीं आ रहा है। भोजनमें जो रस पड़ा हुआ है उस रसका ज्ञान तो यह कर रहा है, निश्चयसे उस रसका भी यह ज्ञान नहीं कर रहा है, किन्तु उस रसको विषयभूत बनाकर अपने आपके ज्ञान में जो परिणमन कर रहा है उसको ही जान रहा है।

स्वयंका ही ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व—जैसे कहते हैं ना भगवान सर्वज्ञदेव परमात्मा निश्चयसे आत्माको ही जानते हैं और व्यवहारसे सबको जानते हैं। उसका अर्थ क्या है? परमात्मा सब पदार्थोंमें तन्मय होकर जैसे कि अपने जानन परिणमनमें तन्मय होता है, इस तरह तन्मय होकर पदार्थको नहीं जानता, वह तो अपने आपमें तन्मय होकर अपना जानन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बनाता है। इस कारण जैसे परमात्माको हम कहते हैं कि निश्चयसे वह अपने आत्माको जानता है और व्यवहारसे सबको जानता है, ऐसी ही बात हमारी आपकी सबकी है। निश्चय से तो भोजन आदिक प्रसंगोंमें भी हम अपनेको जानते हैं। अपनेको जाना इसने विभावरूपमें, पर जाना अपनेको और व्यवहारसे उस भोजनको जाना। निश्चयसे इस जीवने अपने आनन्द रसका स्वाद लिया, व्यवहारसे उस भोजन मिठाईका स्वाद लिया, यों कहा जाता है। मैं वस्तुतः अपने ही परिणामोंका भोक्ता होता हूं, यह श्रद्धा अमृत है, इसको जो पीवेगा, जो इस श्रद्धाको रखेगा उसका जीवन सफल है। वह प्रभु अंतरङ्गमें निराकुल रहता है। प्रभुकी भक्ति के एवजमें हमको यही बड़ा प्रसाद मिलता है, जो अन्तः निराकुल रह सकता है, यह मैं आत्मा अपने परिणामोंका ही अनुभवने वाला हूं।

जीवपरिमाण—हूं मैं कितना निश्चयसे ? तो मैं असंख्यातप्रदेशी होनेके कारण लोक प्रमाण हूं और यह लोकप्रमाणपना जीवमें शाश्वत रहता है। भले ही विस्तारमें लोकप्रकाण नहीं है, पर इसके अन्तःप्रदेशको निरखकर लोकप्रमाणता ही शाश्वत रहती है, और व्यवहार से जैसा शरीर पाया, जैसी अवगाहनाका परिणमन पाया, नामकर्मके द्वारा रचा हुआ छोटा और बड़ा शरीर पाया, उसमें रहता हुआ वह जीव देह मात्र है। इस समय ऐसा ही तो लग रहा है कि मैं देह प्रमाण हूं, लेकिन एक ध्यान और दीजिए। देहप्रमाण होकर भी अपने उस शुद्ध चैतन्यस्वभावमें मग्न होता है तो उसे देहप्रमाणकी खबर नहीं रहती है। अनुभवन चलता है आत्मप्रदेशोंमें ही, पर अनुभवनकी सीमाका विकल्प नहीं रहता। जैसे कि लौकिक सुख दुःख भोगनेके समय अपनी सीमा याद रहती है, मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। कहाँ हो रहा है हाथमें कि पैरमें कि सिरमें ? इतना तक भेद डाल देते हैं, पर स्थान भेदके समय चैतन्यस्वभावके उपयोगके समय इसके उपयोगमें देहप्रमाणताका भी विकल्प नहीं है, केवल एक चित्स्वरूपका अनुभव है, कोई दूसरी बात ही नहीं है, ऐसे शुद्ध ध्यानके समय जो अद्वैत की स्थिति होती है उसी स्थितिको लक्ष्यमें लेकर कुछ लोगोंने सर्वथा अद्वैत मान लिया है। मैं सर्वदा एक हूं, एक ही मैं आत्मा हूं, सर्वव्यापक हूं, यों मान्यता हो गयी। स्वभावके उपयोग में चूंकि द्वैतका, दो का विकल्प नहीं रहता है, इस स्थितिको सर्वथाके रूपमें कुछ लोगोंने मान लिया है। यह मैं आत्मा शरीर प्रमाण हूं, फिर भी निश्चयसे लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हूं।

उपाधिबन्धन—भैया ! जीवकी कथनी जब चले तब कहीं दूसरे जीवकी ही बात कही जा रही है, ऐसी दृष्टि न लायें। मेरी ही यह बात है, यों इसको अपने आपपर घटित करते हुए ही निरखना चाहिए। यह मैं आत्मा व्यवहारसे कर्मोंके साथ एकमेक चल रहा हूं, बड़ा विचित्र बन्धन है कर्मोंका और जीवका। सोचनेमें यों आता है कि आत्मा तो रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित है, अमूर्त है, और ये कर्म मूर्तिक हैं। अमूर्तका मूर्तके साथ बन्धन कैसे हो गया ? इसमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गांठ नहीं लग सकती, इसमें प्रतिघात नहीं हो सकता, फिर यह बन्धन कैसे हो गया ? आश्चर्य होता है, और बन्धन इतना तीव्र है कि उस बन्धनकी दृष्टिसे जब देखते हैं तो यों भी कह दिया जाता कि जीव और कर्मका एकत्व परिणमन हो गया। इतना कठोर बन्धन है।

उपाधिबन्धनमें अमूर्त जीवकी मूर्तता—जीवका बन्धन निमित्तनैमित्तिक भावमें शुरू होता है, और परवशता इतनी बढ़ जाती है कि यहाँ तक नौबत आ गयी है। यह जीव शरीर में भी इतना बँधा हुआ है, एक क्षण भी शरीरसे अलग हटकर हम किसी जगह बैठना चाहें तो नहीं बैठ पाते हैं। कहीं जायें तो इस शरीरपिंडोलाको लिए-लिए जायेंगे। जब बहुत तेज गर्मी पड़ती है और प्याससे व्याकुल होते हैं, पीते जाते हैं पानी, गले तक भर गया, फिर भी प्यास लगी है। दो घूँट पानी भी नहीं जा सकता, बेचैन हो रहे हैं। अपना ही शरीर अपने को दुःखद मालूम पड़ने लगता है, पर इस शरीरसे पृथक् स्वरूपका चिन्तन भी जब महान संकटोंको टाल देता है तो जो प्रभु उस शरीरसे सर्वदाके लिए पृथक् हो गये हैं, केवल ज्ञानपुञ्ज आनन्दघन अपने स्वरूपमें अवस्थित हैं, उनका तो निःसंकट स्वरूप है। यहाँके संकटोंको कभी-कभी टालनेका श्रम किया जाता है। ये सब व्यर्थकी बातें हैं। कोई मूलतः संकट टालनेका उद्योग बने। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप उपयोग बने तो इस प्रकार संकट टलेंगे, फिर आगामी कालमें संकट आयें ही नहीं। इस प्रकारसे निःसंकट अवस्था बने तो वह है वास्तविक निःसंकट स्थिति। यह मैं आत्मा व्यवहारसे कर्मोंके साथ एकमेक होनेके कारण मूर्त बन गया हूं, फिर भी निश्चयसे देखा जाय तो रूप, रस, गंध, स्पर्शका मुझमें स्वभाव नहीं है, इस कारण मैं मूर्त नहीं हूं, अमूर्त हूं।

अधिकार गाथाका दर्शन—जीवके सम्बन्धमें जीवकी इन विशेषतावोंको निरखा जा रहा है। इस गाथामें जीवका स्वरूप बतलाया जा रहा है और साथ ही यह भी घोषित हो रहा है कि इस इस प्रकरणको लेकर आगे विस्तारसे वर्णन किया जायगा। यह जीव है, यह चेतयिता है, यह उपयोग सहित है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देहमात्र है, मूर्तिक है, कर्मसहित है। इन सभी प्रकरणोंपर अलगसे कभी-कभी कथनमें वर्णन किया जायगा और इन सबको स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकरणको सुनकर हमें अपने आपके सही स्वरूपका निर्णय रखना चाहिए।

जीवकी कर्मसंयुक्तता—यह जीव कर्मसे संयुक्त है। यहाँ अनेक दृष्टियोंसे इस कर्म संयुक्तताको देखनेपर जीवकी अनेक परिस्थितियाँ समझमें आती हैं। परमशुद्ध निश्चयनयसे तो यह जीव कर्मसंयुक्त नहीं है। यह शुद्धनय केवल सहजस्वभावरूप अपनेको दिखाता है। शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव अपने ज्ञान दर्शन आदिक गुणोंकी जो शुद्ध क्रियाएँ हैं उन क्रियावों से संयुक्त है। क्रिया और कर्म दोनोंका एक ही अर्थ है। सिद्ध और अरहंत प्रभुका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो उन ज्ञानादिक गुणोंकी परिणतियाँ हो रही हैं वे परिणतियाँ ही परमात्माके कर्म हैं। कर्मका अर्थ है जो किया जाय, जो हो जाय, जो परिणति बने। ऐसे शुद्धनिश्चयसे शुद्धचैतन्य परिणमात्मक कर्मोंसे संयुक्त है यह जीव। इसमें जीवकी उत्कृष्टता प्रसिद्ध होती है अशुद्धता नहीं। अशुद्ध निश्चयनयसे यह जीव पुद्गल परिणामोंके अनुरूप, निमित्तभूत कर्मोदयके अनुरूप जो चैतन्यपरिणमन होता है, गुणोंकी परिणतियाँ होती हैं तदात्मक भावकर्मसे संयुक्त है, यों कर्मसंयुक्त है। व्यवहारनयसे यह जीव इन अशुद्ध चैतन्यपरिणामोंके अनुरूप जो पुद्गल कर्मका बन्धन हुआ है, जो जो भी स्थितियाँ हुई हैं उन पुद्गलपरिणामात्मक कर्मोंसे संयुक्त है। यह जीव इस प्रकार कर्मसंयुक्त है।

विशेषणोंकी खंडनमंडनात्मकता—जीवकी विशेष व्याख्यामें ९ विशेषण दिये हैं। इन ९ विशेषणोंसे जीवका ज्ञान तो कराया गया है, साथ ही साथ जो जीवके सम्बन्धमें किसी एकान्त स्थानका हठ करते हैं उनके एकान्तका खण्डन भी हो जाता है। प्रत्येक शब्द खण्डन-मंडनात्मक होता है। शब्दका क्या अर्थ है? जो है वह तो मंडन हुआ, इसके अलावा और कोई दूसरा अर्थ नहीं है यह खण्डन हुआ। प्रत्येक शब्द खण्डनमण्डन स्वरूपको लिए हुए है। हम प्रयोजनवश खण्डनपर दृष्टि नहीं डालते हैं, पर जो कहा गया है वही तो कहा गया, अन्य तो नहीं। हम मंदिर जाते हैं, मंडन हो गया मंदिर जानेका। हम और किसी अन्य जगह नहीं जाते, यह भी तो साथ साथ उसमें भरा हुआ है।

नास्तिकताका परिहार व अचित्स्वभावका परिहार—जो जीवके ये विशेषण कहे गये हैं उनसे क्या मंडित होता है और क्या निराकृत होता है? इसे सुनिये। सर्वप्रथम विशेषण तो जीवकी सिद्धिके लिए है। जीव है, अनेक लोग तो ऐसे हैं चारवाक आदिक कि जीवकी सत्ता ही नहीं मानते। जीव है इतना कहनेमें अपने आप यह सिद्ध हो गया कि जीवका अभाव नहीं है। इससे नास्तिकवादका निराकरण हो जाता है। इनके बाद कहा है कि चेतन है यह जीव। अनादिकालसे यह जीव चैतन्यस्वरूपको लिए हुए है। कुछ लोग जीवको मानते भी हैं, पर उसे चैतन्यरूपसे नहीं मानते। ये अनेकके संयोग होनेसे जीवकी यह परिस्थिति बन गयी है। एक ऐसी बिजली पैदा हो गयी कि यह चलता है, फिरता है, खाता है, इसमें चैतन्यका काम नहीं है। चेतना क्या अलगसे है? ऐसा भी मानने वाले कुछ लोग हैं।

उपयोगस्वरूपता—तीसरे विशेषणमें यह प्रकाश दिया है कि यह आत्मा अनादिकाल से चैतन्यस्वरूपको लिए हुए है, यह तो ठीक है अथवा सामान्य चेतनाका तो वर्णन प्रायः सभी मत करते हैं। उन मतोंमें भी साधारण रूपसे पाया जाता है। उसके बाद विशेषण दिया है, यह उपयोगसे विशेषित है। यह विशेषण आत्माके जानन-देखनके उपभोगका मंडन करता है और साथ ही सर्वज्ञकी सिद्धि भी करता है। मोक्षका और मोक्षके साधनका भी

http://sahjanandvarnishastra.org/

संकेत करता है। इस जीवका जो कुछ भविष्य है वह उसके उपयोगपर निर्भर है इस बातको प्रकट करते हैं। है भी यह बात। हम जैसा उपयोग करें वैसा ही हममें प्रभाव होता है। हम जब दुःखके अनुरूप अपनी कल्पना बनाते हैं तो उन तात्कालिक ज्ञानोंके परिणाममें दुःख मिलता है। ऐसी ही सुखकी बात है। जब हम शुद्ध ज्ञानपरिणतिको निहारते हैं तो हममें आनन्द प्रकट होता है। यों हमारा सारा भविष्य हमारे उपयोगपर निर्भर है।

प्रभुताके मर्म—इसके बाद विशेषण दिया है कि यह जीव प्रभु है, समर्थ है। इस प्रभुता का विशेषण कहनेसे हमारी शिक्षाके लिए दो बातें आती हैं। एक तो मैं प्रभु हूं अर्थात् संसार में रुलूं, मोक्षमार्गमें लगूँ, इन सब बातोंके लिए मैं समर्थ हूं। दूसरी बात—परमात्मा भी प्रभु है और इसी कारण प्रभुकी ध्वनिमें प्रकट हुए प्रत्येक वचन प्रामाणिक हैं, क्योंकि वह प्रभु हैं। जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें कहीं भी कुछ शंकाके योग्य बात नहीं है। यह आत्मा प्रभु है, इस प्रभुताके विशेषणसे जो लोग अपनेको पराधीन मानते हैं, दूसरोंकी दृष्टिमें हमारा जैसा नम्बर आये तैसा ही होनहार है, इस प्रकारके जगत् कर्तृत्वका खण्डन होता है।

जीवकी निष्कर्मता—प्रभुताके विशेषणसे आत्यन्तिक शुद्धताका समर्थन होता है। कोई इस प्रकारका विचार लिए हुए हैं कि यह जीव तो सदैव रागी रहेगा ही। भले ही किसी क्षण राग मंद हो जाय, इतना मंद हो जाय कि वह वीतराग जंचने लगे। इतना होने पर भी कुछ समयके बाद चाहे वह चिरकालका समय हो, राग आयगा, उसे संसारमें आना होगा, जन्म मरण करना होगा, रुलेगा। ऐसी ही मुक्तिका नाम वैकुण्ठ है। जीव तपस्या करके वैकुण्ठमें पहुंच जाता है और वहाँ चिरकाल तक खरबों वर्षों तक रहता है, पर कुछ समय बाद ईश्वरके मनमें आया, राग पैदा कराकर ढकेल दिया, ऐसा भी कोई लोग मानते हैं। यह वैकुण्ठ क्या है? नवग्रैवेयक, जो जैन सिद्धान्तमें ग्रैवेयक कहा गया है, उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। ग्रीवा मायने भी कंठ है, और ग्रीवासे ग्रैवेयक बना है, और वैकुण्ठ भी कंठसे बना है। लोककी जो रचना है उस रचनामें जो मनुष्याकार लोक रचना है उसके कंठ का जो स्थान है वह ग्रैवेयक है। ग्रैवेयकका लाभ अपनी उग्र तपस्यासे और व्रत समता आदिक परिणामोंसे उत्पन्न हो जाता है। वहाँ ३१सागर पर्यन्त भी देव रहते हैं। इन वैकुण्ठवासियोंके मंद कषाय है, कषाय नहींके बराबर अर्थात् शुक्ल लेश्या है। एक इस ही को दृष्टिमें लेकर यों कह दिया कि राग नहीं है। वह भगवान हो गए हैं, लेकिन जब आयुका क्षय होता है तो उन्हें आकर जन्म मरणके चक्रमें फंसना ही होता है। ऐसा तो फंसाव अब भी है उनके। वे ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाते हैं, पर राग अभी भी नहीं छूटता। जीव कभी रागी नहीं होता, इस बातका खण्डन इस विशेषणने किया है। जीव प्रभु है।

स्वपरिणामकर्तृत्व—५वीं बात बतायी है जीवके सम्बंधमें कि अपने आपके परिणामों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का यह जीव कर्ता है। अपनी जितनी भी यह सृष्टियाँ करेगा उसका यह स्वयं ही परिणमयिता है। अन्य पदार्थ केवल निमित्तमात्र हैं। इस कर्तृत्वके विशेषणसे मंडन यह किया कि शुद्ध अथवा अशुद्ध जो भी परिणमन होता है उसका यही जीव कर्ता है। साथ ही जो सिद्धान्त जीव को अकर्ता कहता है और उस अकर्तृत्वका एकान्त हठ करता है उसका निराकरण होता है। कुछ बंधु ऐसा मानते हैं कि यह जीव अकर्ता है, पुण्य पाप शुभ अशुभ यह कुछ नहीं करता। यह तो सदाकाल शुद्ध रहता है। फिर पूछा जाय तो यह सुख दुःखका अनुभवी कैसे होता है, करता तो कुछ नहीं है, तो उनका उत्तर यह है कि बुद्धिके मार्फत जो कि प्रकृतिका विकार है जीवकी चीज नहीं है। बुद्धिमें आये हुए अर्थको यह भ्रमवश चेतने लगता है। बहुत बातें करनेके बाद तो बात टिक नहीं सकती इस सिद्धान्तकी। भ्रमवश चेतने लगना तो यह भ्रम किसमें जगा? प्रकृतिमें जगा। तो प्रकृति ही कुछ अनुभव करे। फिर यह चेतन किसे अनुभव करता है, यह सिद्धान्त उन्हें बताया जा रहा है जो जीवको अकर्ता तो मानते हैं, लेकिन भोक्ता साथ-साथ मानते हैं। अकर्ता और अभोक्ता दोनों माने तो एक नयसे यह बात उनकी घटित हो जाय, पर अकर्ता तो माना, अभोक्ता नहीं माना। भोगने वाला यह जीव है, किन्तु कर्ता नहीं, उस मतका इसमें निराकरण होता है।

स्वयं भोक्तृत्व—यह जीव भोक्ता है, ऐसा कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि अपनी करनी अपनी भरनी। ऐसा स्वच्छन्द मत हो कि जो मनमें आये सो करो। अरे जो करोगे उसे भोगोगे। इस विशेषणमें उस मंतव्यका खंडन होता है जो मंतव्य जीवको भोक्ता नहीं मानते। कर्ता तो मान लेते हैं और भोक्ता नहीं मानते। जैसे क्षणिकवादमें इस जीवने पाप किया, अब वह जीव पाप करके नष्ट हो गया। क्षणिक सिद्धान्त है। नया जीव उत्पन्न हुआ। तो जिसने किया उसने तो नहीं भोगा। भोगने वाला कोई दूसरा बन गया, किन्तु ऐसा तो नहीं है, जो कर्ता है वही भोक्ता होता है।

जीवकी देहप्रमाणता—यह जीव देहप्रमाण है। कुछ लोग मानते हैं कि यह जीव बट के बीजकी तरह अत्यन्त छोटा है और यह सारे देहमें चक्कर लगाता रहता है। इससे मालूम पड़ता है कि मैं देह बराबर हूं। कुछ लोग यह मानते हैं कि यह आत्मा तो एक समस्त लोक में फैला हुआ व्यापक है। ये दोनों परस्परमें विपरीत सिद्धान्त हैं। किसीको अणुमात्र मान लेना और किसीको सर्वव्यापक मान लेना—इन दोनों बातोंका निराकरण अथवा मंडन इसमें हुआ है। अणुमात्रका मंडन तो नहीं होता, पर कदाचित् यह जीव अत्यन्त छोटे शरीरमें पहुंच जाय तो वहाँ उस देहप्रमाण रहता है। यह जीव असंख्यातप्रदेशी है। इसमें वह योग्यता है, शक्ति है कि किसी समय एक क्षण जैसे कि लोकपूरण समुद्घातमें होता है, आत्माका एक-एक प्रदेशपर विरल होकर विस्तृत हो जाता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवकी अमूर्तता—यह जीव अमूर्त है। कुछ लोग इस जीवको अमूर्त नहीं मानते। नैयायिक, मीमांसक, कपिल आदि मन्तव्यमें जीवका वर्णन करके भी जीवकी ऐसी अमूर्तता जो देहसे अत्यन्त विविक्त निर्मल आकाशवत् निर्लेप सहज स्वरूप समर्थ एक द्रव्य है, इस प्रकारकी स्पष्टता नहीं आती। अमूर्त कहनेसे यह सिद्ध किया गया है कि जीव शरीरके बन्धनमें रहकर भी नाना परिणतियोंसे विचित्र परिणाम करके भी यह सदैव रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित रहता है।

निष्कर्मता और कर्मसंयुक्तता—यह जीव कर्मसंयुक्त है। द्रव्यकर्म और भावकर्म इसके साथ लगे हुए हैं। ऐसा न जानना कि यह जीव अनादिकालसे ही कर्मरहित है, इसपर कभी कर्मोंका लेप ही नहीं है। देखिये—आखिर ये सभी सिद्धान्त जिन एकान्तोंका निराकरण किया है वे सभी बातें जीवमें पायी जाती हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे वे सब बातें सच हैं। यह जीव सदा मुक्त भी है। हम आप अनादिकालसे मुक्त हैं। कोई एक अलगसे प्रभुकी बात नहीं कही जा रही है। जरा स्वभाव तो देखो—क्या जीवके स्वभावमें कर्मोंका लेप रहना पड़ा हुआ है। जैसे जलके ऊपर मिट्टीका तेल गिर जाय तो वह मिट्टीका तेल जलमें सब ओर फैल गया है, पर जलका स्वभाव क्या मिट्टीके तेलको ग्रहण कर लेना है? प्रथक् रहना है। और देखते ही हैं कि तेल तैरता रहता है। यहाँका वहाँ डोलता रहता है, जल उसे आत्मसात नहीं करता। तो भले ही लेप है, पर जलका स्वभाव तेलसे अलग बना रहनेका है। ऐसे ही यह निरखो कि भले ही इस जीवमें रागद्वेषका विभाव आ गया, कर्म और शरीरका बन्धन हो गया, इतने सब उपद्रव होनेपर भी यह जीव स्वभावसे अपने स्वरूपमात्र है। कुछ भी हो जाय, स्वभाव नहीं बदलता। उस स्वभावदृष्टिसे देखनेपर यह जीव सदाशिव है सदा मुक्त है।

जीवस्वरूपकी दृष्टि—इस गाथाने हमको जीवके मंडनकी दृष्टि दी व जो बात जीवमें नहीं है अथवा एकान्त है उसके निराकरणकी दृष्टि दी, और इस प्रकरणमें आगे जो वर्णन चलेगा वह वर्णन इन ६ बातोंको पुष्ट करता हुआ चलेगा। इस प्रकरणमें इतने प्रकरण और गर्भित हैं। यों भूमिकाके बाद जो ग्रन्थमें प्रायोजनिक स्वरूप कहा जा रहा है उसमें यह प्रकरण गाथाकी तरह माना जाता है। इससे सीधा हम यह समझें कि यद्यपि कर्मउपाधिके कारण मिथ्यात्व रागादिक विभावरूप परिणमन हो रहा है लेकिन इनका त्याग कर स्वभाव दृष्टि करके उनको श्रद्धासे हटाकर ये मैं नहीं हूं ऐसा मानकर मैं तो एक निरुपाधि केवलज्ञान दर्शन आदिक गुणोंसे तन्मय शुद्ध जीवास्तिकाय हूं, ऐसी भावना करना चाहिए।

धर्मीका लक्ष्य—जब तक धर्मीका सद्भाव हमारे उपयोगमें न होगा तब तक हम उसमें धर्म सिद्धि नहीं कर सकते। कैसा इस जीवके वर्णनमें आदान-प्रदान है, पर इसको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किस शब्दसे कहा जावे ? इसको बताने वाला कोई शब्द नहीं है। हम जो शब्द बोलेंगे वह धर्म बन जाता है। धर्मीको बताने वाला तो केवल अनुभव है, जो शब्दमें कह दिया वह उसका एक अंश होगा, धर्म होगा। हाँ उस एक धर्मको हम इस रूपमें ग्रहण करते हैं कि हम धर्मी का ज्ञान कर लें।

उपेक्षासंयमसे स्वरूपलाभ—अपने आपका ज्ञान करना हो तो बहुत सीधा तरीका यह है कि कमसे कम इस ज्ञानका तो उपयोग रखें ही कि जगतमें जितने भी समागम मिले हैं—धन वैभव, घर, परिजन, यश, ये सब असार और भिन्न चीजें हैं, इतनी बात जाने बिना तो जीव अनुभव करनेका पात्र ही कोई नहीं होता। परके सम्बंधमें यथार्थ हमारा जैसा ज्ञान हुआ, दृढ़तासे इस ही प्रकार जानकर विश्रामसे बैठ जायें। मुझे इन भिन्न असार परपदार्थोंको ख्यालमें नहीं लेना है। क्या करना है ? हमें कुछ पता नहीं। हम तो इतना जानते हैं कि जो भिन्न चीजें हैं, असार हैं, जिनसे कुछ सम्बंध नहीं है उनको हम अपने ख्यालमें न लें। पर वस्तुवोंको अपने ध्यानमें न रक्खें, उन्हें अपने ज्ञानमें स्थान न दें, ऐसा शुद्ध विश्राम करें तो यह जीव स्वयं सहज ही अपने आपके स्वरूपका परिचय पा लेगा, प्रतिभास प्रकाश और शुद्ध विशिष्ट आनन्द अनुभव कर लेगा, और तब स्पष्ट समझ जायगा कि ऐसा ज्ञानानन्दमात्र मैं आत्मा हूं।

कम्मफलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥

सिद्धत्वकी व्यक्ति—इस गाथामें मुक्त अवस्थामें अवस्थित आत्माका जो कैवल्यस्वरूप है, निरुपाधि स्वरूप है उसका वर्णन किया गया है। कर्मफलोंसे मुक्त हुआ यह जीव ऊपर लोक के अन्तमें प्राप्त होकर अतीन्द्रिय अनन्त सुखको प्राप्त होता है। यह जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अरहंत अवस्थामें हो ही गया था और वही सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता सिद्ध अवस्थामें भी है और सदाके लिए रहेगा।

आत्मबन्धन—संसार अवस्थामें यह आत्मा बन्धनमें है। बन्धन हमेशा दूसरी चीजके सम्बंधसे होता है। कोई भी पदार्थ खुद ही एक अकेला है, उसमें बन्धन काहेका ? दूसरे पदार्थ का समन्वय हो तभी बंधन बन सकता है। इस आत्माके साथ निश्चयसे तो बंधन रागद्वेष आदिक भावोंका है। ये रागद्वेष आदिक भाव परभाव हैं। धीरे-धीरे परसे विविक्त हो होकर इस विविक्ततामें ठहर जाइये। ये परभाव जिस परका निमित्त पाकर हुए हैं मेरी चीज हैं क्या ? अथवा और बढ़ते जाइये। जो जिसकी चीज है वह उस द्रव्यरूप है। यों रागद्वेषादिक भाव परद्रव्यरूप हैं। देखिये—जिसको अपने लक्ष्यकी कला मिल गयी है वह इस प्रकार समर्थ होकर प्रभु होकर लीला करता है, चिन्तन करता है। जिस चाहे नयपरिज्ञानके रास्तेसे पदार्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के स्वरूपका चिन्तन करे, वह अपने लक्ष्यकी सिद्धि करता है।

रागद्वेषकी पररूपता—एक नयसे रागद्वेष आदिक भाव आत्माके हैं, आत्माकी परिणति हैं, आत्मद्रव्यका ही वह एक पर्यायरूप अंश है, किन्तु इस आत्माको चैतन्यमात्र ही निरखना है ऐसी धारणा करके जब हम अन्य कुतत्त्वोंको विभावोंको निरखते हैं तो इन दशावोंको निरखते जाइये। ये रागादिक भाव परभाव हैं, परके भाव हैं, पर ही हैं, परद्रव्य हैं। आशय मूलमें असत् बने तो वर्णनमें दोष आता है। आशय मूलमें असद् नहीं है तो वर्णनमें दोष नहीं आता, बल्कि वह गुण उत्पन्न करता है।

विशुद्ध आशयकी प्रवृत्तिमें निर्दोषता—बड़े प्रेमकी रिश्तेदारीमें ये रिश्तेदार जब मिलते हैं साले-बहनोई तो कोई-कोई गाली देकर ही मिलते हैं, जय जिनेन्द्र अथवा राम-राम कुछ नहीं। जहांसे दिखा वहांसे कोई न कोई गाली बककर मिलते हैं। आशय वहाँ किसीका विरुद्ध नहीं है, कषाययुक्त नहीं है तो ऐसा वातावरण भी, ऐसी गाली-गलौज भी वहाँ दोष उत्पन्न नहीं करता अर्थात् विवाद उत्पन्न नहीं करता। ज्ञानी जीवका लक्ष्य विशुद्ध होना चाहिए कि मैं एक चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। इस दृढ़ताके होनेपर इस वैभवको परद्रव्य रूप कह सकते हैं। कोई कहे कि वाह! यह परद्रव्य कहाँ है, यह तो आत्माकी परिणति है। अरे क्यों समझाते हो, यहाँ मूढ़ता नहीं है, हम भी जानते हैं, पर इस समय हम जरा उनका इलाज कर रहे हैं, रागद्वेषादिकका। उनकी चिकित्सामें इस समय हमने यह पद्धति अपनाई है। चिकित्सा तो अनेक तरहकी होती है, मलहम-पट्टी रखकर करना अथवा औजारसे उसका आपरेशन आदि करके करना। हमें अपनी रक्षाके लिए जब जिस प्रकारकी चिकित्सा करनेका हमारा मूड हो हम वह चिकित्सा करते हैं। हाँ, मूलमें अज्ञान बस जाय, तो दोष है।

परसम्पर्कमें बन्धन—यह आत्मा बन्धनमें पड़ा हुआ है। बन्धन किसी न किसी परवस्तुके सम्बंधमें हुआ करता है। अब आगे और चलिये। हमारे साथ बन्धन है द्रव्यकर्मका। यह द्रव्यकर्म तो प्रकट परद्रव्यरूप है। कार्माणवर्गणा जातिके पुद्गल स्कंधोंका यह जाल है। यह आत्मा बन्धनमें पड़ा है, इसका शरीरसे भी बन्धन है, यह शरीर भी परद्रव्य है। परद्रव्यके सम्बंधको ही बन्धन कहते हैं। कोई केवल अकेला हो, उसमें बन्धन नहीं होता है, कोई पुरुष अकेला है, अविवाहित है (लौकिक दृष्टिसे कह रहे हैं) उसके बन्धन नहीं है। सगाई हुई कि बन्धन आ गया। विवाह हुआ कि समझो पूरा बन्धन हो गया। अब आगे बच्चे बढ़े, एक बच्चेमें तो कुछ बात नहीं, दो बच्चे हुए तो विशेष बन्धन हो गया। वे कभी न्यारे तो होंगे ही। उनको अलग-अलग हवेली चाहिए, अलग-अलग सम्पत्ति चाहिए। जितना सम्पर्क बढ़ेगा उतना ही बन्धन बढ़ता है। यह संसारी जीव कर्मरजसे बँधा हुआ है। सीधा सुगम देखनेकी बात बन्धनमें कर्मरज लेना।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवका ऊर्ध्वगमन—जिस कालमें यह जीव इस बन्धनसे सर्वप्रकारसे छूट जाता है। न तो द्रव्यकर्मका बन्धन रहता और न भावकर्मका बन्धन, उस क्षणमें यह जीव कहाँ जाता है, कहाँ रहता है, किस प्रकार रहता है ? इसका वर्णन इस गाथामें किया है। जब यह जीव द्रव्यकर्म और रागादिक भावकर्मसे सर्व प्रकार मुक्त हो जाता है तो चूंकि इसमें ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, अतः लोकके अन्तको प्राप्त होकर वहाँ अवस्थित रहता है। लोक तक ही छहों द्रव्योंका निवास है, उससे आगे नहीं। इसका निमित्त कारण है धर्मास्तिकायका अभाव। यह लोकके अन्तमें अवस्थित हुआ किस प्रकार रहता है, क्या करता है ? इसका उत्तर इस ही गाथाकी उत्तर पंक्तिमें दिया गया है।

पारमार्थिक सुखके अधिकारी—कोई लोग ऐसा भी कह बैठते हैं कहीं या अज्ञानवश कहते हों या अपनी मौजके अहंकारवश यों कह दिया करते हैं कि मोक्षमें क्या सुख होगा, वहाँ अकेले पड़े हुए हैं, कुछ काम भी करनेको नहीं है, वहाँ जी कैसे लगता होगा ? कोई उसका वहाँ साथी भी नहीं है, किसीसे बातचीत किये बिना कैसे वहाँ मन लगता होगा ? अरे जिसको सुख समझा जा रहा है वह सब दुःखस्वरूप है। जिस कालमें यहाँ सुख समझा जा रहा है उस कालमें भी क्षोभ बना हुआ है। और उत्तर कालमें तो इस रौद्रध्यानके कारण उसका ढाँचा ही बदल जायगा। सुखको दुःख माने वह विरला ज्ञानी ही है। खूब संसारकी मौज है, समागम ठीक है, पुत्र आदिक आज्ञाकारी हैं, आजीविकाका साधन अच्छा है, नगरके १० लोग पूछते हैं, इन बातोंसे संतुष्ट होकर मंद कषायोंकी मुद्रा दिखती है। सब कुछ कर ले, पर अंतरङ्गमें रौद्रध्यान बसा हुआ है तो मरणके बाद उसका ढाचा ही बदल जायगा। क्या बनेगा, कैसी गतिमें जायगा, उस रूप ढांचा हो जायगा। सुखको दुःख मान ले तो शांतिका वास्तविक पंथ दिख सकेगा। जो संसारके सुखको दुःख नहीं मान सकता, सुख मानता रहा, उसकी अशान्ति मिटनेका कोई उपाय ही नहीं और ऐसे रौद्रध्यानकी अपेक्षा किसी प्रकारके दुःखमें ठहरा हुआ कह लो, आर्तध्यानी पुरुष अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है, यदि कुछ भी मूलमें ज्ञानदृष्टिकी योग्यता है तो। और इसी बातको सीधे सुगम शब्दोंमें लोग यों कह देते कि "दुःखमें सुमिरन सब करें, सुखमें करें न कोय। जो सुखमें सुमिरन करें तो दुःख काहेका होय॥"

धर्मके नामपर मनकी मौज—मेरा आत्मस्वरूप केवल चिन्मात्र प्रकाशमात्र आनंदघन उत्कृष्टस्वरूप वाला है। उसकी रुचिके लिए, दृष्टिके लिए, उससे मिलनेके लिए उत्सुकता न जगना, तड़फ उत्पन्न न होना—ये सब महा ऐब इस सांसारिक सुखके कारण होते हैं। जो सुख में मस्त है उसे आत्मस्वरूपकी कहाँ खबर है ? अज्ञानी जीवोंके आत्मस्वरूपकी बात करना और धर्मकी बात करना, यह भी साँसारिक सुख लूटनेकी विधि बना ली है। जैसे भोजन करनेमें बड़ा मौज आता है, ऐसे ही चार जनोंके बीच कुछ धर्मकी बातें करनेमें एक मौज आता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह मनका विषय है ना। रसनाका विषय रसनाने किया और मनका विषय लोगोंमें अपना भलापन जंचाना यों धर्मकी बातें कर-करके किया। वह उत्सुकता धर्मके प्रति तब जग सकती है जब श्रद्धामें यह बात बैठ जाय कि ये संसारके समग्र सुख दुःखरूप ही हैं, ऐसी बात दिखे तब धर्ममें परमार्थ पद्धतिसे रुचि जग सकती है। अब सोच लो अपनी-अपनी बात कि हम अपनी वर्तमान परिस्थितिके बारेमें, सुख साधनके समागमके बारेमें भीतरसे ये सब दुःख ही हैं कभी ऐसा ख्याल करते हैं क्या ?

शान्तिकी पद्धति—ऐसा न सोचना कि भैया ! हम तो आये हैं कोई धर्मकी बात सुनने और यहाँ मिले मिलाये आनन्द पर भी पानी फेरा जा रहा है। जो सुख मिला है उसके प्रति भी दुःखदायी दृष्टि दिलाकर हमारा तो जीवन ही किरकिरा किया जा रहा है। अरे जब तक इस सुखसे विलक्षण शुद्ध स्वाधीन आत्मीय आनन्दका लाभ नहीं होता, उसकी झलक नहीं होती तब तक ही ऐसा लगेगा कि यह सब सुख है, हम मौजमें हैं। देखिये शान्ति तो ज्ञानकी दिशापर निर्भर है, लौकिक वैभवपर निर्भर नहीं है। लौकिक वैभव होकर भी यदि ज्ञान शुद्ध बना हुआ है, बुद्धि स्वच्छ बनी हुई है तो वहाँ भी शान्ति मिल सकती है। वह शान्ति सद्बुद्धिका प्रताप है, न कि सम्पत्तिका प्रताप। किसीके सम्पदा न हो, कम हो और बुद्धिकी स्वच्छता ठीक रही आये तो उसको शान्तिकी पात्रता है। यह प्रभु मोक्ष अवस्थामें केवलज्ञान, केवल दर्शनस्वरूपमें रह रहकर निरन्तर सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता रूप रह रहकर अतीन्द्रिक अनन्त सुखका अनुभव करते हैं।

मुक्तता और अमुक्तता—ये सिद्ध प्रभु मुक्त जीव हैं कि अमुक्त जीव ? मुक्त जीव भी हैं, अमुक्त जीव भी हैं। कर्मोंसे छूट गये इसलिए मुक्त हैं, किन्तु अपने स्वरूपसे नहीं छूटे अथवा इतना ही नहीं, अपने स्वरूपके परमविकासमें तन्मय हो गये ऐसे अमुक्त हैं। अच्छा आप लोग भी मुक्त जीव हैं कि अमुक्त जीव ? आप लोग भी मुक्त भी हैं अमुक्त भी हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, शुद्धअवस्था इनसे तो आप मुक्त हैं और रागद्वेषमोह इनसे अमुक्त हैं। ये सिद्ध प्रभु कर्म कलंकोंसे मुक्त होकर और अपने स्वरूपमें उत्कृष्ट विकसित होकर अतीन्द्रिय अनन्त सुखका अनुभव करते हैं।

मुक्त जीवमें जीवत्व, चेतयितृत्व, उपयोगित्व, प्रभुत्व व कर्तृत्व—इससे पहिली गाथा में जीवके विशेषण बताये गये थे। उन विशेषणोंको सिद्धमें भी घटा लीजिए घट जायगा। इस मुक्त जीवके जीवत्व है। जीवका जो भावप्राण है ज्ञानदर्शन उस भावप्राणका धारण होनेसे उन भावप्राणोंसे प्रति समय यह जीता रहता है, सद्भाव रहा करता है, यही मुक्तका जीवत्व है। दूसरा विशेषण था जीव चेतन है, इसमें चेतयितृत्व है। तो चेतशितापना तो सिद्ध प्रभु में स्पष्ट है। शक्तिसे चित्स्वरूप, व्यक्तिसे चित्स्वरूप शाश्वत शुद्ध चैतन्यमात्र प्रकट यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मुक्त प्रभु है। तीसरा विशेषण था—उपयोगविशेषित है। चैतन्यस्वभावका शुद्धपरिणमन केवलज्ञान और केवलदर्शनके रूपमें प्रकट होता है, ऐसे उत्कृष्ट उपयोगसे वह युक्त है।

चौथा विशेषण था कि यह जीव प्रभु है। समस्त अधिकार शक्तिकी रचनाका जो स्वामी हो उसका ही तो नाम प्रभु है। ये सभी विशेषण संसारी जीवोंमें भी घटित होते हैं, सिद्धमें भी घटित होते हैं, पद्धतिका भेद है। सिद्ध भगवान अब निरन्तर सदाकाल अपने आपमें शुद्ध ज्ञानरूप शुद्ध आनन्दरूप परिणमते रहेंगे, ऐसी अधिकारशक्ति उनके प्राप्त हुई है। समस्त अधिकार शक्ति की रचनामें जो युक्त हैं उन्हें ही तो प्रभु कहते हैं। यह मुक्त जीव प्रभु है। इसमें कर्तृत्व भी है। कर्तृत्व नाम है अपने असाधारण स्वरूप रचना करते रहना। साधारण रूपमें कर्तृत्वका प्रश्न ही नहीं है, अनादि अनन्त एक शक्ति मात्र है। उस शक्तिका असाधारण स्वरूप प्रति समय कुछ न कुछ रहा करता है। कोई व्यक्ति हुए बिना शक्ति क्या चीज है? जितनी भी शक्तियाँ हैं, उनकी किसी न किसी रूपमें व्यक्ति रहती है। चाहे वह व्यक्ति समझमें आये अथवा न आये, यह कर्तृत्व है। यह सिद्ध प्रभु अपने इस असाधारण रूपसे केवलज्ञान रूपसे, दर्शन रूपसे शक्ति और आनन्दरूपसे अपने आपका रचयिता रहना इसका ही नाम कर्तृत्व है और सिद्ध प्रभुमें ऐसा कर्तृत्व सदैव रहता है, रहेगा।

मुक्तजीवमें भोक्तृत्व व देहमात्रत्व—इसके बादका विशेषण था जीव भोक्ता है, यह सिद्ध प्रभु भी भोक्ता हैं, ये भी भोगते रहते हैं। अपने स्वरूपभूत, स्वतंत्रतारूप, शुद्ध आनन्द की उपलब्धिरूप अपनी परिणतिको ये सदाकाल भोगते रहते हैं। भोगना, अनुभवना, परिणमना, वर्तना यों धीरे-धीरे विशेष अर्थसे सामान्य अर्थकी ओर पर्यायवाची शब्दोंके सहारे चलते जाइये। तो भोगना क्या हुआ? वर्तनाका नाम भोगना है। यह सिद्ध प्रभु अनन्त चतुष्टय सम्पन्न बर्तते रहते हैं। इसके बाद विशेषण दिया था—जीव देहमात्र है। सिद्ध होनेसे पहिले जो अवस्था प्राप्त थी, जो कि अतीत हो गया, विलीन हो गया उस अतीत शरीरके परिमाणमें अब भी उनका अवगाह है। यह सिद्ध प्रभु चरम शरीर प्रमाण अपनी अवगाहनाको लिए हुए हैं। काहेकी अवगाहना? ज्ञानादिकस्वरूपकी अवगाहना। यों यह देहमात्र ही है। देह तो नहीं रहा, पर जैसे सुनार लोग गहने बनाते हैं, मोम गल जाय तो अब कोई मैटर तो नहीं रहा, पर तदाकार एक अवगाह हो गया, ऐसे ही शरीर तो अब नहीं है सिद्ध प्रभुके, किन्तु जिस शरीरको तजकर वे मुक्त हुए हैं उस शरीरप्रमाण उनके प्रदेशोंमें उनका स्वरूप ज्ञान, दर्शन शक्ति आनन्द आदि व उनकी व्यक्तियाँ रहा करती हैं। यों सिद्ध प्रभु देहमात्र है।

मुक्त जीवमें अमूर्तता व निष्कर्मता—ये मूर्त किसी भी प्रकार नहीं हैं, इसलिए अमूर्त विशेषणके प्रसंगमें उनमें अमूर्त तत्त्व ही निरखना। उपाधिका सम्बंध सदाकालके लिए हट गया है, इसलिए आत्यंतिक अमूर्तपना उनमें प्रकट है। अंतिम विशेषण था जीवकर्मसंयुक्त है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो सीधे-सीधे तो यों निरखना कि उनमें किसी प्रकारके कर्मोंका संयोग नहीं है, न द्रव्यकर्म का सम्बंध है और न भावकर्मका सम्बंध है। द्रव्यकर्म तो कहलाता है पुद्गल स्कंध और भावकर्म कहलाता है इस चेतनका संयोग। दोनों प्रकारके कर्म नहीं हैं, अतः सिद्धप्रभु कर्म-संयुक्त नहीं हैं, और मानना ही है कर्मसंयुक्त तो कर्मका अर्थ है क्रियापरिणति। सिद्धप्रभुकी भी जो परिणति हो रही है वही उनके कर्म हैं, वही उनका धर्म है। उस कर्मसे वे सदा सत् रहेंगे अनंतकाल तक। उनके कर्म हैं शुद्ध ज्ञानरूप परिणमन, शुद्ध आनन्दरूप परिणमन। इस प्रकारकी क्रियासे वे सदैव संयुक्त रहेंगे। यों सिद्धप्रभु कैसे हैं, कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, इन तीन बातोंका समाधान इस गाथा द्वारा किया है।

संसारी जीवकी कर्मसंयुक्तता—यह संसारी जीव कर्मसंयुक्त है। कर्म दो प्रकारके हैं—एक पुद्गल स्कंधरूप द्रव्यकर्म और एक चैतन्यके विवर्तरूप भावकर्म। यह संसारी जीव द्रव्य-कर्मोंसे तो बद्ध है और भावकर्मसे तादात्व कालमें तन्मय है। भावकर्म चैतन्यके विवर्त है। यह चैतन्यशक्ति अनादिकालसे ज्ञानावरणादिक कर्मोंके सम्पर्कमें अवरुद्ध हो रही है अर्थात् इसका प्रचार घुट गया है। जैसे कोई अन्दरमें तो जान रख रहा है, पर बाहर उसका विकास नहीं हो पाता, ऐसे ही यह चैतन्यशक्ति अन्तरङ्गमें तो सब कुछ वह है अनन्त महिमा वाली, किन्तु उसका विकास नहीं हो पाता, इस कारण यह शक्ति घुट रही है, और इस प्रकार यह चैतन्यशक्ति ज्ञेय समस्त पदार्थोंके एक देशमें ही क्रमसे व्यापार कर रही है और इस प्रकारके व्यापारमें जो कुछ गुजर रहा है वही चैतन्यका विवर्त है। इस तरंगने ही दो बाधाएँ डाल दीं हैं ज्ञानविकासमें। एक तो सबको नहीं जान सकता और एक क्रमसे जानता है। जितनेको भी यह जान सकता है उतनेको भी एक साथ जान ले, ऐसा भी नहीं है। इस प्रकार यह जीव संसारमें भावकर्मसे संयुक्त है, किन्तु सिद्ध प्रभु उन कर्मोंसे रहित हैं।

सिद्ध प्रभुकी निरुपाधिता—सिद्ध प्रभु कर्मोंसे कैसे रहित हो गये? यह तो मानना ही पड़ेगा कि कोई पदार्थ अपने स्वभावसे विपरीत परिणमे तो उसमें किसी न किसी परद्रव्य का सम्पर्क निमित्त है। यद्यपि प्रत्येक पदार्थ अपनी ही शक्ति और परिणमनसे परिणमते हैं, निमित्तभूत किसी पदार्थकी रंचमात्र भी शक्तिको लेकर, परिणमनको लेकर, प्रभावको लेकर नहीं परिणमते हैं। प्रभाव भी शक्तिके विकासके अलावा और कुछ चीज नहीं। यह कहना कि उसका प्रभाव इनपर अच्छा पड़ा, यह उपचार कथन है। बात वहाँ यह थी कि ये लोग स्वयं उसके सम्बंधमें कुछ विचार बनाकर अपने प्रभावसे प्रभावित होते हैं, उसका प्रभाव इनपर नहीं पड़ा है। प्रभाव भी उपादानका है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणमनसे परिणमते हैं, किन्तु विभावरूप परिणमनकी योग्यता रखने वाले पदार्थ किसी परपदार्थको निमित्त करके ही अपने प्रभावसे अपने परिणमनसे परिणमा करते हैं। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विपरीत परिणमन किसी परपदार्थका निमित्त हुए बिना होता नहीं है। यह बात अवश्य है कि जो अयोग्य उपादान वाला है अर्थात् अशुद्ध परिणमनकी योग्यता रखता है वह पदार्थ, चूंकि निमित्त तो सब जगह भरे ही हैं, सो निमित्त मिलता है और वह विरुद्ध परिणमता है, किन्तु विरुद्ध परिणमनरूप प्रभाव स्वयं अपने आप केवल ही रहकर परसम्पर्क बिना होता नहीं है। उपाधि बिना विभावपरिणमन हो जाय, ऐसा एक भी उदाहरण न मिलेगा।

कर्मप्रक्षयसे अभूतपूर्वविकास—जिस समय ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सम्पर्क दूर होता है, ज्ञानावरणादिकके सम्पर्कके दूर होनेमें निमित्त आत्माका शुद्ध परिणाम है, जब ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सम्बन्ध दूर होता है तो ज्ञेयभूत जो समस्त विश्व है उस सबके सबमें एक साथ व्यापार करने लगती है यह चेतनाशक्ति, और जब सारे विश्वको एक साथ जान लिया तीन लोक, तीनकालवर्ती समस्त पदार्थोंको एक साथ जान लिया तो अगले समयमें क्या जानेंगे ? वही का वही। जैसे सब जान लिया गया तो अगले समयमें क्या जानेंगे ? सब। वहाँ इतना भी विकल्प नहीं होता कि यह पदार्थ, यह पर्याय हुई थी, है, होगी और अगले समयमें जो होगा अब वह है और जो है माना वह था, हो गया। इस प्रकार कालकृत भी विकल्प उनमें नहीं होता है और इसी कारण यह कहा गया है कि वे समस्त पदार्थ उनके ज्ञानमें वर्तमान ही हैं, कथंचित् इसी कारण वे कूटस्थ हैं।

सिद्ध प्रभुकी अविवर्तता—यद्यपि प्रतिसमयमें ज्ञानशक्तिका नया-नया विकास हो रहा है, परिणमन चल रहा है, किन्तु उसके विषयकी ओरसे देखा जाय तो वही वही ज्ञात है, इस कारण वहाँ परिणति भिन्न नहीं मालूम होती। इसी कारण कथंचित् कूटस्थपनेको प्राप्त हो गया उनका वह चेतन यह दृष्टिमें आता है। अब इस परिणमनको विवर्त नहीं कहा। यद्यपि प्रतिसमय परिणमन हो रहा है लेकिन विषयांतरको प्राप्त हो तो विवर्त नाम है वह विषयान्तरको प्राप्त होता ही नहीं, भला सब जान लिया। अब सबसे अतिरिक्त कोई विषय हो और फिर उसे जाने तो वहाँ विवर्तपना आयगा। अथवा आन्तरिक दृष्टिसे निरखो तो उनका विषय अपने आपके उपयोगमें अपने आपका ही प्रकाश पड़ा हुआ है। वह कभी अन्य ज्ञेयरूप परद्रव्यको प्राप्त नहीं होता अर्थात् परपरिणति उनमें नहीं हुआ करती है। परपदार्थोंका निमित्त पाकर रागद्वेष की तरंग उनमें नहीं होतीं, इस कारण उनके परिणमनको विवर्त नहीं कहा गया है। जो विवर्त है वह भावकर्म है। सिद्धप्रभु भावकर्मसे भी रहित हैं।

मोहमें सुगममार्गकी विषमता—देखो निर्दोषताके इस चमत्कारसे प्रभुमें सर्वज्ञता और सर्वदर्शिताकी उपलब्धि हुई है। यह ही कर्मोंके कारणभूत भावकर्मके कर्तृत्वका उच्छेद है। सीधासा काम बड़ा कठिन लग रहा है और कठिनसा काम बड़ा सरल लग रहा है। भोजन करना कठिन काम है, लेकिन ऐसा सरल लग रहा है कि दूसरेके सिरपर चढ़कर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भोजन करेंगे। कुछ गल्ती हो जाय, खराबी बन जाय तो नाराज हो गये, यह बड़ा सरल लग रहा है और आत्मदृष्टिका काम जो कि स्वयंके स्वरूप है वह बड़ा कठिन लग रहा है। देखिये — यहाँ बैठे हैं, अपना शरीर शरीरमें है, यह जीव जीवमें है, स्वतंत्र है, किसीकी कोई पराधीनता नहीं है। यहाँ भय है। सब ओरसे विकल्प तोड़कर स्वयं जो कुछ यह गुनगुनाने वाला है, जाननहार है, इस जाननहारमें अपने आपमें अपने आप अपने आपको प्रकाशमें ले लूँ, यह कोई कठिन बात है क्या ? पर जब दृष्टि नहीं है, रुचि नहीं है तो कठिन तो क्या, असम्भव बना रखी है। मुझ चित्‌शक्तिका स्वभाव ही सर्वज्ञरूपसे विकास करनेका है, सर्वदर्शी रूपसे विकास करनेका है। विकासमें भावकर्म नहीं है, द्रव्यकर्म नहीं है, ऐसे अद्भुत चमत्कार की प्रीति न करके बाह्यमें जड़ सम्पदाका, मलमूत्र आदिक मलोंसे भरे हुए शरीरका और मोही कलुषित जीवोंके द्वारा दो-चार प्रशंसाके शब्द सुननेका लोभी बन रहा है। अपने उस अनन्त चैतन्य चमत्कारकी रुचि न करना, बस इसीका नाम मूढ़ता है। यही बहिरात्मापन है।

सिद्ध प्रभुमें भोक्तृत्वका उच्छेद व शुद्ध भोक्तृत्व—सिद्धोंमें विकारपूर्वक अनुभवन नहीं हो रहा, सो भोक्तृत्वका विनाश भी है। यह जीव सुख दुःखका परिणाम भोगनेसे ही भोक्ता कहलाता है। यह जीव भोक्ता है, किसका ? सुखका अथवा दुःखका। सुख और दुःख भी उपाधिजन्य भाव हैं। सिद्धप्रभुके इस प्रकारका भोक्तृत्व नहीं है, किन्तु किसे भोग रहे हैं वे ? स्वयंके स्वरूपके अनुभवरूप सुखके वे भोक्ता हैं। जो इस चित्‌तत्त्वमें विवर्त हो रहे थे उन विवर्तोंका खुदका अब विनाश हो गया, तरंगें ही नहीं होतीं। यह ज्ञान स्वभावतः प्रकाशरूप विस्तृत हो गया है उस चैतन्यका, उस चैतन्यात्मक आत्मतत्त्वका, जो कि अनन्त सुखस्वरूप है उसका यह भोक्ता है। इस प्रकार मुक्त जीवोंको इसमें निरुपाधिस्वरूप कहा गया है।

प्रभुपरिचयकी पात्रता—सिद्धप्रभुका परिचय हम आप तब तक नहीं पा सकते जब तक हम अपनेको केवल न निरख सकें, क्योंकि वह केवल है। यद्यपि देहका, कर्मका हम आपके साथ बन्धन है, पर बन्धन होते हुए भी जब हम स्वभावदृष्टिमें पहुंचते हैं तो वहाँ उपयोगमें बन्धन है ही नहीं। द्रव्य द्रव्यका बन्धन है अथवा बाह्य बन्धन है। इस स्वभावमें, इस उपयोगमें कोई बन्धन नहीं है। यों हम निर्बन्धदृष्टिसे अपने आपको निहारें, तो हम सिद्धप्रभु का कुछ परिचय पा सकते हैं, और वह परिचय हमें ज्ञान और आनन्दके अनुभवके रूपमें मिलेगा, ऐसा किया जा सकता है। परिस्थिति कुछ हो और अनुभव शुद्ध स्वभावका किया रहा हो, ज्ञानबलमें ऐसा ही चमत्कार है। जहाँ हम अपने आपके स्वभावको अपनी दृष्टिमें लें वहाँ हम केवल ही अनुभवमें आयेंगे, और तब सिद्ध प्रभुके आनन्दका और उनकी परिस्थिति का हमें अनुमान होगा।

बन्धन होनेपर भी अबद्धता—देखिये तालाबमें जहाँ कमलका बगीचा लग रहा है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कमलके पत्ते इतने चिकने होते हैं कि उनपर पानी पारेकी तरह यहाँ वहाँ ढेलेके रूपमें लुढ़कता रहता है। उस बगीचेमें कमलपत्रको हम जब बाह्यदृष्टिसे देखते हैं तो वह पानीसे संयुक्त है, पानीसे बँधा हुआ है, छुवा है, और जब हम उस कमलपत्रको ही केवल निहारते हैं, उसका स्वभाव देखते हैं तो वहाँ यही नजर आता है कि पत्तेमें पत्ते हैं, इनमें पानीका सम्बंध नहीं है। बाह्यदृष्टिमें सम्बंध है और पत्रके स्वभावको देखते हैं तो उसमें पानीका सम्बंध नहीं है। ऐसे ही मुझमें कर्मोंका और शरीरका सम्बंध है, परिस्थिति तो ऐसी है और जब हम बाह्य-दृष्टि करके देखते हैं तो यह ही नजर आता है, बन्धन ही बन्धन समझमें आ रहा है। इस परिस्थितिमें भी हम केवल अपने स्वभावपर दृष्टि दें।

स्वभावदृष्टिकी अलौकिकता—देखिये स्वभावदृष्टि रखने वाले पुरुषका अलौकिक परिणमन होता है। उसे घर-बार लौकिक यश, लौकिक अपयश, दुकान, वैभव, परिजन, कुटुम्ब, देह किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं रहता। यदि ऐसी स्थिति बनी है तब तो ठीक है, और विकल्पोंसे तो विराम न हो और चूंकि शास्त्रोंमें लिखा है उसका आधार बनाकर अपने आपको ज्ञानी मानकर फिर विकल्पोंमें मौज बनाकर जीवन बितावे, यह लाभकर नहीं है। हम ज्ञान-स्वभावको पा चुके हैं, उसकी पहिचान एक थोड़ीसी इस रूपमें हो जाती है कि हमें किसी पर-द्रव्यका विकल्प तो न था उस क्षण, यदि ऐसी निर्विकल्प परिस्थितिमें जब हम अपने स्वभाव को देख रहे हों उस समय तो इसका बंधन नहीं है, भले ही ऐसा ज्ञानी पुरुष किसी दुष्ट राजा आदिके द्वारा बन्धनमें डाल दिया जाय, कारागारकी कोठरीमें उसे बंद कर दिया जाय, फिर भी उस ज्ञानीका उपयोग जब अपने स्वभावमें पहुंचता है, रमता है तो उस समय भी कोई बंधन ही नहीं है। शरीर भी जिसका बन्धन नहीं है उपयोगमें उसके लिए कारागरकी कोठरी क्या बन्धन बनेगी ? स्वभावदृष्टिसे जब हम अपनेको निरखते हैं तो हम वहाँ अपनेको बन्धन-रहित पाते हैं।

परिणतिमें दृष्टिकी अनुसारिता—भैया ! निर्बन्धस्वभावकी उपासना करनेमें निर्बन्ध दशाएँ प्रकट होती हैं। कारणकी तरह ही कार्य हुआ करता है। हम चाहें यह कि हम सदा के लिए शरीरसे छुटकारा पा लें और शरीरको ही मानते रहें कि यह मैं हूं तो कारण तो विपरीत बनाया, शरीरसे छुटकारा कैसे होगा ? यदि हम शरीरसे सदाके लिए मुक्त होना चाहते हैं तो हमारी अबसे ही यह भावना होनी चाहिए कि मैं शरीरसे जुदा हूं, और भावना क्या, इस प्रकारका दर्शन भी अपने आपमें होते रहना चाहिए कि मैं तो एक चित्प्रकाशमात्र हूं, विविक्त पदार्थ हूं। यह अपनी चिन्मात्रता निरखे तो विविक्त हो सकेगा, मुक्त हो सकेगा। और यह शरीर ही मैं हूं, इस प्रकारका विश्वास रक्खे तो ये शरीर मिलते रहेंगे। ये शरीर बने रहनेका उपाय है शरीरको आत्मा मानना। और शरीरसे छूटनेका उपाय है शरीरसे भिन्न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चैतन्यमात्र आत्मामें प्रतीति करना।

बड़े कार्योंकी छोटीसी कुञ्जी—देखिये कितना बड़ा काम है? संसारका मिलता रहना यह भी बहुत बड़ा काम है, फिर शरीर मिला, फिर अनेक परिणमन हुए, फिर अनेक संगम मिले, फिर मरण हुआ, फिर और बातें हुईं यह क्या छोटा छोटा काम है? कीड़ा बन गये, पेड़ बन गए, पशु बन गये, मनुष्य बन गये, राजपाट भोग लिया, चला वाला हो गया, फिर कीड़ामकोड़ा बन गया, ऐसी विभिन्न प्रकारकी अवस्थावोंका ग्रहण करना यह भी बहुत लम्बा चौड़ा बड़ा काम है और शरीरसे कर्मोंसे रहित होकर एक अपनी इस शक्तिमें, ज्ञानमें समस्त ज्ञेयोंको झलका लेना, सबका एक साथ भीतर ज्ञान करते चले जा रहे हैं यह भी बहुत बड़ा काम है। दोनों बड़े काम हैं, संसारमें रुलना यह भी बड़ा काम है और मुक्त होकर अनन्त कालके लिए शुद्ध ज्ञान और आनन्दका अनुभव करना, समस्त विश्वको एक साथ जानना देखना, यह भी बहुत बड़ा काम है। और इन दोनों बड़े कामोंके करनेकी कुञ्जी बहुत छोटी है, साधारण है, उपाय बिल्कुल साधारण है। संसारके बड़े कामका उपाय मूलमें इतना ही है कि शरीरको मानलें कि यह मैं हूं। बहुत बड़े श्रमकी बात तो नहीं कही जा रही है, बहुत छोटीसी बात है। शरीरको मान लें कि यह मैं हूं, फिर इतने बड़े संसारका काम सुगमतया होता रहेगा और मोक्षके बड़े कामका भी उपाय बहुत सीधा छोटासा है। शरीरादिक परद्रव्योंसे न्यारे इस ज्ञानप्रकाशको मान लें कि यह मैं हूं, कितना सस्ता सौदा है? केवल माननेपर ही इतना बड़ा काम हो जाता है। तो यह मोक्षमार्ग केवल एक इस भेदभावनापर निर्भर है।

धर्मपालनमें मूल पुरुषार्थ—धर्मपालन करो, धर्मपालन करो—ऐसी अपने आपको प्रेरणा जगे अथवा दूसरोंसे उपदेश मिले तो यह तो बतावो कि धर्मके पालनमें करना क्या है? एक ऐसी मूल बात बतावो जिसका कहीं विरोध न बैठे, विघात न हो, खण्डन न हो और कभी उससे विपरीत फिर दूसरी बात न कहनी पड़े। ऐसा कुछ काम तो बतावो जिसको कि धर्मपालन करना कहते हैं। कहकर फिर उससे हटना नहीं, किसी भी परिस्थितिमें, ऐसी धर्मपालनकी बात बता दो जो हमें प्रारम्भसे लेकर अन्त तक वही-वही करनेको पड़ा हो। वह धर्मपालन क्या है? अपने आपमें जो सहजस्वरूप है उस रूप अपनेको मान लेना, बस यही धर्मपालन है। प्रारम्भमें भी लोग यही करते हैं, मध्यमें लोग यही करते हैं और अन्तमें भी लोग यही करते हैं। गृहस्थोंका भी इसमें धर्मपालन है और साधुवोंका भी इसमें धर्म-पालन है। बस भेद पड़ा है बाहरी परिस्थितिका। चूंकि गृहस्थके गृहस्थी है और परिग्रह आदि हैं अतएव उनके विकल्प विस्तारका मौका अधिक रहा करता है। विकल्प विस्तार किस प्रकार मिटे उस परिस्थितिमें, उसके उपायमें जो कुछ तन, मन, धन, वचनकी क्रियाएँ की जाती हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वे व्यवहारधर्म हैं।

व्यवहारधर्मकी उपयोगिता—व्यवहारधर्म बाड़का काम करता है। जैसे खेतमें फसल खड़ी है, उसे कोई उजाड़ न दे, इसके लिए खाई और बाड़ आलम्बन है, इसी प्रकार मुझे स्वभावालम्बनका धर्म पालन करना है, हमारे भीतर यह कृषि है, उस स्वभावालम्बन रूप धर्मको ये विषयकषाय ये पशु उजाड़ न दें, उनसे उजाड़ रोकनेके लिए व्यवहारधर्म हमारे लिए बाड़का जैसा काम करता है। और उस व्यवहारधर्मको करते हुए हम अपने आपमें सुरक्षित रहते हैं, और उस सुरक्षामें हम धर्मपालन जितना कर सकते हैं कर लेते हैं, यही है धर्मपालन।

आत्मकर्तव्य—प्रयोजन यह हैं कि निरुपाधि केवल सिद्ध भगवंतका जैसा परिणमन है, चमत्कार है वैसा ही बननेकी हम आपमें सामर्थ्य है। वैसा बननेका प्रोग्राम बनायें। उस प्रोग्राममें मूलमें हमें यही करना होगा कि हम सब परद्रव्यों परभावोंके विकल्पसे विश्राम पायें और केवल अपने शुद्ध चैतन्यप्रकाशको निरख लें, यही निरुपाधि होनेका उपाय है। हम यदि अभीसे अपनेको निरुपाधिस्वरूपमें तक सकते हैं तो हम भविष्यमें निरुपाधि बन जायेंगे। अतः कर्तव्य यह है कि हम अपने आपकी प्रतीति केवलज्ञान तेज रूपमें बनायें—मेरा तो यह है, मेरा तो यह है, मेरा सर्वस्व, मेरा शरण, मेरा सार यह आत्मतत्त्व है। ऐसी दृष्टि आत्मदृष्टि बनायें, इसमें ही अपना कल्याण है।

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ॥२९॥

शक्ति और व्यक्ति—यह चेतयिता स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अनंत अव्याबाध सुखोंको प्राप्त करता है। यह आत्मा ज्ञान दर्शन सुखस्वभाव वाला है। जो शक्ति जिस द्रव्यमें नहीं होती है उसका विकास कहांसे होगा ? कोईसा भी विकास, परिणमन किसी अन्य द्रव्यसे नहीं आता। अपनेमें ही रहने वाली शक्तिका विकास ही परिणमन है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द-स्वभाव वाला होकर भी संसार अवस्थामें अनादिकालसे कर्मसंक्लेशके कारण इसकी आत्म-शक्ति संकुचित हो गयी है। अब परद्रव्योंके सम्पर्कसे क्रम-क्रमसे कुछ-कुछ जानता है, देखता है और ऐसे सुखका भी कदाचित् अनुभव करता है जो पराधीन है, मूर्तिक पदार्थोंके सम्बंधसे हुआ है, जिसमें अनेक बाधायें हैं, ऐसे सांसारिक सुखका अनुभव भी वह करता है।

सांसारिक सुखोंकी पराधीनता—संसारमें जितने भी सुख हैं वे सब सुख परापेक्ष हैं, यद्यपि वह सुखपरिणमन आत्माके आनन्दशक्तिका ही विकास है, फिर भी किसी परपदार्थकी दृष्टि हुए बिना, किसी परको कल्पनामें लाये बिना सांसारिक सुखकी प्रादुर्भूति नहीं होती है, इस कारण ये समस्त सुख पराधीन हैं। जैन नाम तो वास्तवमें उसका है जो जिन भगवानके इस तात्त्विक उपदेशको अपने चित्तमें उतारे। न अपने चित्तमें उतारे कोई तो जैन नाम कह-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लवा लेनेसे कहीं शान्तिका मार्ग नहीं मिलता। शान्ति तो शान्तिकी पद्धतिसे ही होती है।

वास्तविक देवभक्ति—अधिक आसक्ति हो, तृष्णा हो, यह मेरा है, यह पराया है इस प्रकारकी कुवासना होना, ये सब बातें चित्तमें हों तो हमने भगवानकी क्या भक्ति की ? भगवानकी आज्ञाके विरुद्ध चलें और वचनोंसे केवल भगवानकी प्रशंसा कर दें तो इतने मात्र से भक्ति भी नहीं होती। सही भक्ति आज्ञाकारितामें है। चित्तमें कभी कभी तो सब जीवों का समान स्थान आ जाना चाहिए। अरे किसी दिन तो माने हुए परिजनोंको छोड़कर जाना ही होगा। फिर ये परिजन क्या तुम्हारे कुछ होंगे ? भला हो कि अपने ही इस जीवनमें गृहस्थ होकर भी चित्तको इतना उदार बनायें कि इसमें यह मेरा है, यह पराया है—इस तरह की कुवासनाकी मुद्रा न बने तो यह पुरुष अर्थात् आत्मा ज्ञान दर्शन सुख स्वभाव वाले अपने स्वभावको निहार सकता है। यदि यह निहारता है अपने स्वरूपको तो इसका विकास कर लेगा। नहीं निहारता है तो अन्य पदार्थोंकी भीख माँगना, आशा करना यह अपने क्लेश संक्लेशसे पापका बन्ध करेगा। ये सांसारिक सुख पराधीन हैं। सिद्ध भगवानका आनन्द स्वाधीन है, यही तो अन्तर है, नहीं तो सिद्ध पूज्य किस बातसे होंगे ?

सांसारिक सुखकी पराधीनताका संक्षिप्त विवरण—भैया ! कितनी आधीनताएं हैं सांसारिक सुखमें ? मूलमें तो अनुकूल कर्मोदय हो, साथ ही कुछ उदयके विपाकके सहारे नोकर्म, साधन विषयोंका सम्बन्ध मिलें। अब व्यवहारदृष्टिसे देखो—लौकिक समागम जिनको प्राप्त है वे प्रसन्न रहें, अनुकूल रहें, उन्हें अपनायें, सब बातें बनें तो सांसारिक सुख मिले, किन्तु ऐसा होना इनके आधीन नहीं है। सभी चीजें अपना-अपना अस्तित्व लिए हुए हैं। उनकी कषाय उनमें उनके रूप है। कोई जीव वस्तुतः मुझे चाहता नहीं है, वे अपने आपके ही विषयको चाहते हैं। दूसरोंके चाहनेमें उनकी पूर्तिमें यदि मैं निमित्त हो सकता हूं तो उस का ख्याल करके वे लोग कहा करते हैं कि हमें इनसे प्रेम है। कोई जीव किसी दूसरेसे प्रेम कर ही नहीं सकता, चाहे वह पिता-पुत्र हो, चाहे पति-पत्नी हो, कोई हो, यह वस्तुका अकाट्य स्वरूप है। कोई किसीसे न प्रेम कर सकता है, न द्वेष कर सकता है। क्या वास्ता है ? प्रत्येक पदार्थ अपना स्वरूप लिए है, अपने आपमें परिणमता है। इस कारण अपनेमें कितनी भी चाह बनायें तो भी परकी सिद्धि नहीं होती। सांसारिक सुखमें बड़ी पराधीनता है और कदाचित पुण्यका ऐसा ही सुयोग मिल रहा है, सुख मिलता जा रहा है, वर्ष दो वर्ष १० वर्ष बीत गये, बड़ा मौज रहा। किसी दिन बिगड़ गयी तो सारा पन्ना पलट गया। अब जितना अधिक इष्ट माना जाता था उससे कई गुणा अनिष्ट माना जाने लगा। तो ये सांसारिक सुख पराधीन हैं और फिर इनमें है क्या ?

कामस्पर्शनमें पराधीनता व असारता--सांसारिक सुख ६ भागोंमें बंटे हुए हैं—स्पर्शन,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मनके सुख। ६ भागोंमें बंटे हुए इन सुखोंमें से प्रत्येकपर दृष्टि डालें तो किसी सुखमें सार नजर न आयगा। स्पर्शनइन्द्रियके सुखमें लोग कामवासनाकी पूर्तिको प्रधानता देते हैं। वहाँ भी है क्या ? हाड़, मांस, लहू आदि अपवित्र चीजोंको यह पिंड है। जब रागभाव न हो उस समय देख लो सारा शरीर गंदा दिखता है कि नहीं, पर जब राग होता है, कामवेदना होती है तो वह गंदा शरीर भी उसको गंदा नहीं नजर आता, किन्तु जब शान्तचित्त हो, वेदनारहित हो उस समय परख लो, अपना शरीर भी गंदा मालूम होगा, अपना शरीर भी बोझ मालूम होगा, परका शरीर भी बोझ मालूम होगा। और फिर उस क्षणिक सुखसे आत्माको लाभ क्या होता है ? अन्तमें तो यह पछताता ही है।

स्पर्शनमें अहितता—अन्य भी जो स्पर्शनइन्द्रियके सुख हैं, स्पर्शनसे ठंडी चीज छू ली, सुहा गयी, गर्म चीज छू ली, सुहा गयी, ये भी तो स्पर्शनइन्द्रियके सुख हैं। किन्हीं की ऐसी इच्छा होती है कि मुझे शीत और उष्णका भी समय-समयपर आनन्द रहा करे। हाँ समयका साधन वर्तमानमें यह शरीर है, अकालके समयमें यों ही क्यों इसे गुजार दें, इसलिए तेज लू में न बैठना, कहीं लू लगनेसे प्राणान्त न हो जाय, अत्यन्त ठंडी शीत जगहमें न बने रहना, कहीं निमोनिया होकर प्राणान्त न हो जाय, यह तो विवेककी बात है, लेकिन थोड़ा भी ठंड गर्मी सहनेका भाव ही न हो तो यह तो इन्द्रियविषय है। इसमें भी क्या तत्त्व भरा है ? थोड़ी-थोड़ी ठंड गर्मीसे दूर रहनेके परिणाममें केवल विकल्पजालोंमें गुंथा रहेगा और उन्हीं कल्पनाओंमें दुःखी होगा।

रसनेन्द्रियज सुखकी असारता—रसनाइन्द्रियका सुख ले लो। उसमें भी क्या तत्त्व है ? प्राण रखनेके लिए थोड़ासा कोयला पानी चाहिए यों समझ लो। यह भी तो इज्जत है, भोजनपान चाहिए। ठीक है, अब उसमें रसीला ही मिले, स्वादिष्ट ही भोजन करें, उससे कौन सा लाभ लूट लिया ? क्षणिक सुखका मौज आ गया, वह तो रौद्रध्यान है। उसमें भी लाभ क्या हुआ ? रसीला गरिष्ट और इतना ही नहीं भरपेट भोजन भी विषयमें शामिल है। कोई यह सोचे कि हम बहुत गरिष्ट नहीं खा पाते, नहीं मिलता, किन्तु बहुत ठूँसकर खा लें तो ऐसा खाना भी विषयमें शामिल है। खानेके बाद खाटपर लेट जाना पड़े, चाहे अनेक कष्ट भी आ जायें, पर हमारा पेट खूब भरा रहे, ऐसी दृष्टि तो रखी तो ऐसा भरपेट भोजन भी रसना इन्द्रियके विषयमें शामिल है। रसीले स्वादिष्ट भोजन भी रसनाइन्द्रियके विषयमें शामिल हैं। परिणाम क्या होता है ? पीछे दुःखी होता है। अपना ही शरीर अपनेको बोझल हो जाता है। परिणाम क्या निकला ?

घ्राणेन्द्रियज सुखकी असारता—घ्राणइन्द्रियका विषय तो बिल्कुल व्यर्थसा लगता है। कुछ इत्र फुलेल आदि सुगंधित पदार्थ सूंघ लिये या कपड़ोंमें रख लिए ताकि सुगंध

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिलती रहे यह तो बिल्कुल बेकार सी चीज है। सारे इन्द्रिय सुखोंको देखते जाइये कितने पराधीन हैं और उन विषयसुखोंमें कितनी दीनता करनी पड़ती है? अन्तरङ्गका परिणाम कितना कायर बनाना पड़ता है इन विषय सुखोंके भोगनेके लिए?

नेत्रेन्द्रियज व कर्णेन्द्रियज सुखकी असारता—नेत्रइन्द्रियका सुख तो बड़ा भोंदूपनेसे भरा हुआ है। कई हाथ दूर वस्तु है। जरा शकल सूरत रूप आकार प्रकार सुहा गये, अब टकटकी लगाये देख रहे हैं, पराधीन हो रहे हैं। ये सब विषय दीनतासे ही भोगे जा सकते हैं। शान्ति और वीरतासे विषय नहीं भोगे जाते। शान्ति और वीरता तो आत्म-उत्थानमें मदद देती है। कर्णइन्द्रियका सुख राग रागिनीके भले शब्द सुन लिये, ठीक है, सुननेकी कुछ बात नहीं, किन्तु उसमें आसक्त होना और सुनकर चित्तमें राग काम आदि भाव उत्पन्न होने लगना ऐसी आसक्ति कर्णइन्द्रियके विषयमें होती है। कितनी पराधीन बात है? इतने समागम जुटावें, मनावें, खर्च भी करें और फिर दिल भी रखें, इतने पर भी अपनेको दीन बनाये बिना कोई सा भी सुख भोगा नहीं जा सकता।

मानसिक सुखकी असारता—मनका सुख यश नामवरी, प्रतिष्ठा, नेतागिरी ये सारी बातें मनके सुखकी हैं। इनमें कितना पराधीन बनना पड़ता है? आप लोग तो जानते हैं जब कोई चुनावका समय आता है तो उम्मीदवार लोग वोटरोंको उस समय भगवान मानते हैं। ये हमारा पद रखने वाले हैं। बहुतसे तो वोटरोंके पैर तक छू डालते हैं। ये सारे सुख पराधीन हैं। ये मूर्त पदार्थोंके सम्बन्धसे होते हैं। अमूर्त वस्तुका ध्यान करके कोई विषयसुख हुआ करता है क्या? आप एक शंका कर सकते हैं कि अमूर्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंके सम्बन्धमें चर्चा चलती है और उस चर्चाके भी प्रसंगमें सुख होता है तो देखो ना अमूर्त पदार्थके सम्बन्धसे भी सांसारिक सुख मिला है या नहीं? नहीं मिला। वह जो सुख लूट रहा है वह अमूर्त पदार्थके ध्यानका सुख नहीं लूट रहा है, किन्तु जिन लोगोंमें हम चर्चा करते हैं, जिनसे बात करते हैं उनको मनका विषय बनाया है और उनको विषय बनाकर उस सम्बन्धमें वे सुख लूट रहे हैं।

प्रभुके सहजानन्दका विस्तार—ये समस्त सांसारिक सुख बाधासहित हैं, ये दुःखरूप हैं, जिनको प्राप्त करनेके लिए लोग अपना जीवन लगा देते हैं। ये सांसारिक सुख नियमसे नष्ट होंगे। भगवान सिद्धप्रभु ऐसे सुखोंसे आत्यंतिक दूर हो गये हैं। वे तो अव्याबाध आत्माधीन अमूर्त अनन्त सुखोंको प्राप्त करते हैं। जिस समय इस आत्माके कर्म क्लेश समस्त रूपसे नष्ट हो जाते हैं तब अनर्गल अर्थात् बेरोक-टोक आत्मशक्ति विस्तृत हो जाती है तब यह प्रभु एक साथ समस्त परिणमनोंको जानते और देखते हैं, और साथ ही साथ अपने ही आपके निमित्तसे बाधारहित अनन्त सुखका अनुभव करते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सर्वज्ञसिद्धिकी झांकी—इस गाथामें दो बातोंपर दृष्टि दिलायी है—एक तो यह कि आत्माका वास्तविक स्वरूप सर्वज्ञताका है, इसका स्वभाव अथवा इसका स्वाभाविक कार्य सबको जाननेका है, जाननेके लिए यत्न नहीं करना है, जाननका तो स्वभाव ही बना हुआ है, पर यह स्वभाव कैसे विकसित होता है उसका उपाय केवल पारमार्थिक अंतस्तत्त्वका आलम्बन है। कुछ लोग कहते हैं कि सर्वज्ञ नामकी कोई चीज नहीं है, क्योंकि वह दिख ही नहीं रहा है। सर्वज्ञका निषेध करनेमें कुछ ज्यादा बात नहीं करना है, दिख नहीं रहा—इतना ही कह दो। हो सर्वज्ञ तो बता दो। इसका समाधान सुनिये—यह तो बतावो कि सर्वज्ञ नहीं है ऐसा जो तुम कहते हो तो इस देशमें सर्वज्ञ नहीं है या सर्वदेशोंमें सर्वज्ञ नहीं है, इस कालमें सर्वज्ञ नहीं है या भूत वर्तमानके सब कालोंमें सर्वज्ञ नहीं है। सर्वज्ञका निषेध करनेमें तुम्हारा मतलब है क्या? यदि कहोगे कि इस देश और इस कालमें सर्वज्ञ नहीं है तो यह तो सही बात है, इसमें गलत कुछ नहीं है। यदि यह कहें कि सारे जगतमें और समस्त कालमें सर्वज्ञ नहीं है तो यह बतावो कि तुम सारे जगतको देख करके कह रहे हो या सारे जगतको देखे बिना कह रहे हो। तुम समस्त कालकी बातोंको जानकर कह रहे हो कि सर्वज्ञ नहीं है या बिना जाने कह रहे हो? बिना जानकर कह रहे हो तो तुम्हारी बात प्रामाणिक नहीं है, तुमने सर्व देशोंको देखा ही नहीं है। सब जगह देख लो और फिर न मिले सर्वज्ञ तो मना करो। सर्व देश सर्वकालमें देख लो, यदि नहीं है सर्वज्ञ तो यह बात कही जा सकती है कि सर्वज्ञ नहीं है। यदि कहो कि हाँ हमने सर्वदेश सर्वकालमें देख लिया, कहीं सर्वज्ञ नहीं है तब तो हम आपकी पूजा शुरू कर दें, क्योंकि तुम्हीं सर्वज्ञ हो गये। समस्त लोकको समस्त कालको तुमने देख लिया तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो गये। मना क्यों करते हो?

सर्वज्ञत्वके निराकरणके हेतुका निराकरण—सर्वज्ञसिद्धिके सम्बन्धमें दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ न मिल रहा हो तो आपको ही वह अनुपलब्ध है या तीन लोक तीन कालमें सबको अनुपलब्ध है? आपके अनुलब्ध मात्रसे सर्वज्ञका अभाव न हो जायगा। कई लोगोंको अमेरिका, कनाडा या और छोटे देश जिनमें गति नहीं है उनकी अनुपलब्धि है तो क्या उनकी अनुपलब्धिसे उन देशोंका अभाव हो जायगा? आप यहाँ बैठे हैं, आपको यह पता नहीं है कि पीठ पीछे कौन बैठा है तो क्या उस पीठ पीछे बैठे हुएका अभाव हो जायगा? दूसरेके चित्त की गातकी भी हमें अनुपलब्धि है, हमें दूसरेके मनकी बात मालूम है क्या? नहीं मालूम है तो क्या उस दूसरेकी चित्तकी बातका अभाव हो जायगा? नहीं हो जायगा। यदि यह कहो कि तीन लोक तीन काल वाले सब पुरुषोंको भी सर्वज्ञकी अनुपलब्धि है तो तुमने उन सबकी परख कर ली क्या? कर ली तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो गये। (हँसी)। ये समस्त पदार्थ किसी न किसीके द्वारा अवश्य ज्ञेय हैं, क्योंकि ये हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सर्वज्ञत्व स्वभावकी सिद्धि—भैया ! सीधा यह प्रकाश भी देखें कि जब ज्ञानका स्वभाव जाननका है तो जाननेमें बाधा देने वाली ये इन्द्रियाँ शरीर कर्म जब नहीं रहे, फिर जाननेका स्वभाव तो बेरोकटोक सर्वत्र विकसित होगा ना, उसमें सीधा अब कौन करेगा कि यह ज्ञान अब यहाँ तक ही जाने। जब तक इन्द्रियका सम्पर्क है तब तक इनके विकासमें सीमा है, जब अवरोधक नहीं रहता तो सीमा क्यों रहेगी ? यों यह प्रभु ज्ञानावरण, दर्शनावरणके क्षयसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं और मोहनीय और अन्तरायके क्षयसे ये अपूर्व आनन्दको भोग रहे हैं। सिद्ध भगवान जो समस्त पदार्थोंको स्वयमेव जानते देखते हैं वे स्वयमेव ही आत्मीय आनन्दका अनुभव करते हैं और ये स्वयंके लिए सब कुछ हैं। उनका परसे कुछ प्रयोजन नहीं रहा। यों सिद्ध भगवानका उपाधिरहित ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द है। इसका समर्थन इस गाथामें किया गया है।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

प्राणोंसे जीवत्व—इस गाथामें जीवत्वगुणकी व्याख्या की गई है। जो चार प्राणों कर जीवित है, जीवित रहेगा अथवा जीवित था उसे जीव कहते हैं। वे चार प्राण हैं—बल, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास। यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव शुद्ध चैतन्य आदि प्राणों से जीवित रहता है तो भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे देखा जाय तो द्रव्यरूप प्राणोंसे जीवित रहता है और अशुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो भावरूप प्राणोंसे जीवित रहता है। जो जीवित है इन प्राणोंसे वह जीव है। जो जीवित था इन प्राणोंसे वह जीव है, जो जीवित रहेगा इन प्राणोंसे वह जीव है। तीन प्रकारके कालके नामसे जो प्राणजीवनका वर्णन किया है वह साधारण, बहिरात्मा जीवमें तो अच्छी प्रकार घटित होता है, किन्तु जो शुद्ध हो गये हैं उनमें वर्तमानमें ये प्राणोंसे जीवित हैं यह घटित नहीं होता, और आगामी कालमें इन प्राणोंसे जीवित रहेंगे, यह भी घटित नहीं होता। भूत नैगमनयकी अपेक्षा यह कहा जायगा कि यह इन प्राणोंसे जीवित था, इस कारण जीव है। पर निश्चयनयकी दृष्टिसे तो ज्ञान-दर्शनरूप जो शुद्ध चैतन्य प्राण हैं उनसे यह जीवित रहता है।

प्राणविवरण—प्राण ४ प्रकारके हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। ये चारोंके चारों प्राण चित्सामान्यके अनुयायी हैं अथवा चेतनाके विवर्त हैं, इस रूपमें देखा जाय तो ये ही चार भावप्राण होते हैं और ये चार पुद्गलसे अन्वयी हैं, इस प्रकार निरखा जाय तो ये द्रव्यप्राण होते हैं। जैसे इन्द्रिय प्राण इन्द्रियवरणके क्षयोपशमसे जो आत्मामें उस-उस प्रकारका इन्द्रिय द्वारा बोध होता है अतीन्द्रिय ज्ञान है वह है भावप्राण। और जो ये दिखती हुई इन्द्रियाँ हैं, ये हैं द्रव्यप्राण। इसी प्रकार मन, वचन, कायके सम्पर्कमें भी इस योग्य जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपना बल है वह है भावप्राण और तन, मन, वचनका जो बल है, पौद्गलिक शक्ति है वह हैं द्रव्यप्राण। ऐसे ही आयुके सम्बंधमें जो आयुका उदय है, उदय कर्मका सम्बंध है वह तो है द्रव्यप्राण और आयुका सम्बंध होनेसे जिस प्रकारका इसका जीवन चल रहा है, उस आयु का निमित्त पाकर जो अन्तरमें तद्विषयक भाव चल रहा है वह है भावप्राण। यों ही जो आयु रूप उच्छ्वास है वह है द्रव्यप्राण। और उस वायुरूप उच्छ्वासके निमित्तसे जो आत्मामें एक कुछ जीवनसे संतुष्टि संतोष आदिकके ढंगसे उच्छ्वास सम्बंधित भाव चलता है वह है भाव-प्राण। इस प्रकार यह जीव इन प्राणोंसे जीवित रहता है।

संसारावस्थामें विभावप्राणका अविच्छेद—उन दोनों प्राणोंमें से द्रव्यप्राण अथवा भावप्राण उनमें तीनों कालोंमें कोईसा भी समय ऐसा नहीं आया कि जिसमें बीचमें धारा टूटी हो, बीचमें प्राण न रहे हों और बादमें फिर प्राण आ गये हों। चाहे इन प्राणोंके भेद प्रभेदकी दृष्टिसे कमी-बेशी हो आयी है, लेकिन ऐसा कोई समय नहीं हुआ संसार अवस्थामें जिस समय इस जीवमें इनमेंसे कोई प्राण न रहा हो। बादमें प्राण आते हों। अनविच्छिन्न धारासे इन प्राणोंको धारण कर रहा है यह जीव। इस प्रकार संसारी जीवके जीवत्वकी सिद्धि हुई है। हाँ मुक्त जीवमें एक शुद्ध ज्ञान, दर्शनरूप भावप्राणोंके धारणसे जीवत्वका निश्चय करना है।

प्राणप्रकरणसे शिक्षा—यह जीव प्राणोंसे जीवित है, ऐसा समझानेसे हमको किस कर्तव्यकी शिक्षा मिली है ? इन प्राणोंकी रक्षा करें, अपना ही मतलब रखें, क्या यह शिक्षा मिली है ? इसमें यह शिक्षा बसी हुई है कि ये चारोंके चारों द्रव्यप्राण मेरे स्वरूप नहीं हैं। ये पौद्गलिक हैं, इनके सम्बंधसे संसारभ्रमण ही रहा करता है। मैं इन प्राणोंसे भिन्न अपने शुद्ध ज्ञान दर्शनरूप अव्यय प्राणोंसे युक्त हूं। मेरा कर्तव्य है कि मैं मन, वचन, कायका निरोध करके पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे विविक्त होकर शुद्ध चैतन्यभाव प्राणोंसे युक्त शुद्ध जीवास्तिकायको दृष्टिमें लूं, वह ही उपादेय है। देखिये जहाँ इन प्राणोंकी रक्षाको उपादेय नहीं कहा है वहाँ धन वैभवके रक्षाकी तो कहानी ही कौन करे ? केवल एक शुद्ध जीवस्वरूपको दृष्टिमें लेकर सोचिये—शरीरका सम्बंध, मनका सम्बंध, इन इन्द्रियोंका सम्बंध इस जीवको अनर्थका ही कारण बन रहा है। जीवका स्वभाव तो समग्र लोक और अलोककी जानकारी कर लेना है, और विशुद्ध निराकुल आनन्दमें लीन बने रहना है, किन्तु हो क्या रहा है ? यह सब किसकी करामात है ? यह सब द्रव्यप्राणोंके सम्बंधकी करामात है। यदि मैं केवल रहता, शरीर तो परद्रव्य है, बन्धनमें आये हैं, यह शरीर भी साथ नहीं रहता, कर्म भी साथ नहीं रहते, मैं अपने सहज स्वरूपमें जैसा हूं वैसा ही केवल होता तो ये संसारके झंझट क्यों लदते ? केवल रहनेमें ही सुख है, आनन्द है, ये द्रव्यप्राण उपादेय नहीं हैं, किन्तु विशुद्ध सहजस्वरूप ही उपादेय है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दृष्टिका हितकर विषय—देखिये भैया ! जैन होनेका लाभ लूटना है तो कहाँ दृष्टि दें ? इसको समझिये । यह तो बड़े खेदकी बात होनी चाहिए । पछतावाकी बात होनी चाहिए कि थोड़े समयको मैं आया हुआ हूं, कुछ ही समय बाद यहाँसे बिदा होना पड़ेगा, कुछ भी मेरे साथ न रहेगा । लोकमें कैसा अविवेक हो रहा है कि इन रूपी पौद्गलिक जड़पदार्थोंमें सने जा रहे हैं और थोड़ीसी रागचेष्टा दिखा देने वाले इन स्त्री पुत्रादिक परिजनोंमें सने चले जा रहे हैं । यह तो बड़े खेदकी बात होनी चाहिये थी जो कि मोहमें मौजकी बात मानी जा रही है । अरे अपने आपको यह निरखो कि मैं इन प्राणोंसे भी जुदा हूं । जिन प्राणोंकी लोग रक्षा करते हैं वे प्राण भी संचय और रक्षाके योग्य नहीं हैं । जाना हो तो जावो ।

प्राणरक्षणकी परिस्थिति—प्राणको रक्षाके योग्य उस स्थितिमें बताया है जब कि यह जीव कल्याणकी दृष्टि करने लगा है, किन्तु कल्याणके कर्तव्यमें पूर्ण निपुणता नहीं प्राप्त हुई है ऐसी स्थितिमें बताता गया है कि तुम इन प्राणोंकी रक्षा बनाये रहो । शरीर संयमका साधन है । अतः कुछ भोजनपान कर लिया करो, यह उस स्थितिकी बात है । यदि कोई जीव निपट अज्ञानी है तो प्राणरक्षासे उसको लाभ क्या है ? उसका तो जिन्दा रहना और न रहना सब बराबर है । जीवित रहकर भी उसने क्या लाभ लूट लिया ? और जो जीव आत्मकल्याणकी दृष्टिमें अभ्यस्त हो चुके हैं और आत्मसमाधिमें अभ्यस्त हो गये हैं उन पुरुषों को प्राणरक्षाके विकल्पसे क्या लाभ है ? प्राणरक्षाकी तो ज्ञानके अभ्यासीको जरूरत है । प्राणोंकी रक्षाकी जरूरत होनेपर बेजरूरत उसको है जो ज्ञानी हुआ है और ज्ञानबलसे संयम साधनमें लग रहा है । जैसे सरकार जरूरतकी जमीनको एक्वायर कर लेती है, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष, सम्यग्दृष्टि पुरुष, ज्ञानमें अभ्यस्त पुरुष प्राणोंको प्रयोजनके अर्थ एक्वायर कर लेते हैं । उन्हें प्राण रक्षाकी जरूरत रहती है । वे अपने कल्याणका उद्योग करने वाले हुआ करते हैं, फिर भी यह ज्ञानी इन द्रव्यप्राणोंको उपादेय नहीं मानता । ज्ञानी जीवोंका एक शुद्ध आत्मतत्त्व का अवलोकन, आश्रय, आलम्बन ही उनकी दृष्टिमें उपादेय बताया गया है ।

जीवत्वस्वभावकी दृष्टि—इस प्रकरणमें जो सबसे पहिली गाथा थी, जिससे यह सूचित हो रहा था कि जीवको इन ९ अधिकारोंमें बताया जायगा । यह जीवके जीवत्वकी बात चल रही है । मैं जीव हूं क्योंकि मैं स्वतः सहजसिद्ध अपनी प्रतिभास शक्तिसे जीवित रहा करता हूं । समस्त द्रव्योंमें विलक्षण सारभूत उत्कृष्ट यह जीवतत्त्व है । जीवतत्त्वके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल मूर्त हैं, अमूर्त हैं, अनेक चमत्कार इसमें भी हैं, पर एक प्रतिभासशक्ति न होनेसे ये सब जहाँके तहाँ धरे हैं । न व्यवस्था अपनी जान पाते हैं, न अपने पराये किसीका कुछ ख्याल है । जीव एक ऐसा विलक्षण पदार्थ है कि वह अनेक पदार्थोंकी जानकारी करता है, जिसका इतना फैलाव है भावों द्वारा, ज्ञानद्वारा कि लोक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में भी क्या अलोकमें भी यह फैल जाय, ऐसे अपने जीवत्वस्वभावका आदर करो। मोह ममतामें कुछ तत्त्व न मिलेगा, जिन्दगी व्यतीत हो जायगी और अन्तमें पछतावा रहेगा।

आकस्मिकतायें—अच्छा कलकी ही बात बतावो—जो जो मोह ममता किया था, जिन जिनके पीछे अपने तन, मन, धन, वचनकी चेष्टायें की थीं उन सबके फलमें कलके शाम तक कुछ नजर आया था क्या? और अब भी कुछ हाथ है क्या? यों ही आजकी भी बात समझ लो। जो जो मोह ममता की जायगी, जिन जिनको मना-मनाकर खुश रखकर अपनेको शांत किया जायगा उनसे कुछ मिलेगा क्या आपको? ऐसे ऐसे कितने दिन खो दिये। मान लो किसी की आज ६० वर्ष की उमर है तो ३६५ का गुणा करके देख लो, लगभग २० हजार दिन गुजर गये, एक दिनकी बात नहीं कौनसा लाभ पाया, कौन सी तृप्ति पायी? बिना प्रयोजन ही जैसा मिला सुन्दर असुन्दर किसी भी प्रकारका जो भी सम्बन्ध मिला, बस ये दो चार जीव तो मेरे प्राण हैं और बाकी सब जीवोंमें शायद प्राण हों या न हों—ऐसा मतलबी बनकर अपना जीवन गुजार दिया और अन्तमें यह हालत कर ली।

ज्ञानके अभावमें क्लेशजाल—भैया! ज्ञान न हुआ तो जीवनमें बड़ी बुरी हालत रहती है। प्रथम तो यह प्रकृति सहयोग नहीं दे रही है। जब पैदा हुए तब रंगा चंगा शरीर रहा, फिर जवान हुए तो बड़ा बलिष्ट शरीर हो गया। जीवन भर सब कुछ किया, अन्तमें दशा कैसी होती है? शरीरकी दृष्टिसे बुढ़ापा आता है, शिथिलता होती है, खून नहीं बढ़ता, कमजोरी आ जाती है, जहाँ खाटसे भी नहीं उठा जाता, ऐसी ऐसी कठिन हालत हो जाती है। अन्तमें भोगा कष्ट, क्लेश, लोग तो ऐसा उद्यम करना चाहते हैं कि मैं पहिले कष्ट भोग लूँ, बादकी जिन्दगी तो सुखमें रहे। इसीलिए तो लोग धन कमाते हैं। पहिले कष्ट सह लें, कंजूसी करके, यत्र तत्र भ्रमण करके, जैसी चाहे नीति अनीति करके, दूसरोंके लाठी मुक्के सहकर, भूखे प्यासे रहकर रात दिन जुट करके धन कमा लें ताकि ब्याज ही ब्याजसे आराम से जिन्दगी कटे। लोग तो ऐसा करते हैं कि पहिले कष्ट सहलें, पीछे सुख मिलेगा मगर प्रकृति उल्टा काम कर रही है। तुम सुख खूब भोग लो, पीछे बुढ़ापाके रूपमें हम सब सुखकी कसर खूब निकाल लेंगे। प्रकृति यह काम कर रही है। कुछ दिखता ही नहीं, अंधेरा है, सब विरुद्ध है, प्रकृति भी विरुद्ध हो रही है, तब कौनसा सुख लूटना, कहाँ मजेमें रहना, क्या ढंग बना? कोई बात ही फिट नहीं बैठती।

ज्ञानभावनाकी मुक्तता—भैया! फिट बैठने वाली बात है तो केवल एक ज्ञान है। क्या करना है? खूब ज्ञानभावना बनायें। जब तक बल है, जीवन है, सामर्थ्य है तब तक खूब ज्ञानभावना बनायें। अपनी संभाल खूब कर लीजिए। समस्त परपदार्थोंसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूं, इसकी खूब दृढ़ भावना बना लीजिये। फिर डर नहीं बुढ़ापेका।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

फिर किसी भी चीजका डर नहीं है। नहीं उठा जाता खटियासे तो न उठा जाने दो। हम अपने आपमें स्थित उस ज्ञानप्रकाशको निहारते रहें। यह शरीर जैसा बर्तता है बर्तने दो। कोई अशान्ति नही हो सकती। ज्ञानबल जिसने बनाया है उसको जीवनमें अशान्तिका काम नहीं है। जो अपना ज्ञानबल नहीं बना पाया वह धनी हो जाय तो भी अथवा बड़ा नेता हो जाय तो भी कुछ भी पा ले तो भी शान्तिका कुछ काम नहीं, उसे शान्ति न मिलेगी।

आत्मसाधनामें सफलता—भैया ! अनवरत अविच्छिन्न धारासे इस भेदविज्ञान द्वारा निज आत्मस्वरूपको भानमें लो। यह मैं सबसे जुदा केवल भावमात्र हूं, ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। भले ही यह आज निमित्तनैमित्तिक सम्बंधमें बढ़-बढ़कर शरीरमें बंधा है, लेकिन शरीरमें बँधा रहकर भी यह मैं केवल चिन्मात्र स्वरूप हूं। शरीरसे मेरा कुछ नाता नहीं है। जब मैं शरीर भी नहीं हूं तो अन्य पदार्थोंसे मेरा नाता क्या है ? मैं सबसे विविक्त एक ज्ञानस्वभावमात्र हूं इस प्रकारकी बारम्बार भावना की जाय तो सब सफलता है। आप सफल हो गये तो देशको सफल कहा जाता है, कालको सफल कहा जाता है, इस पर्यायको सफल कहा जाता है। मात्र पर्यायकी सफलताका क्या अर्थ है ? उसका तो अहितरूप अर्थ है, हमारी पर्याय सफल हो जाय, मायने इस पर्यायके बाद पर्यायें और मिलें। तो उस पर्यायके फल तो पर्यायें पर्यायें हैं। जीवकी अपने आत्माकी सिद्धि है तो इस पर्यायकी वास्तविक सफलता है। आत्मदृष्टि नहीं है तो सफलताका नाम मत लीजिए। न वहाँ शान्ति हो सकती, न वहाँ निराकुलता आ सकती।

सहजस्वभावके उपादेयत्वकी शिक्षा—देखो यहाँ यह दृष्टि करायी गयी है कि ५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—इन १० प्राणोंसे मेरा स्वरूप अत्यन्त न्यारा है, ये भी मेरे कुछ नहीं हैं। इनसे विविक्त केवल चैतन्यमात्र मैं हूं। जब ये प्राण भी, इन्द्रिय भी, शरीर भी, कुछ भी मेरा नहीं है तो अन्य देश, घर, वैभव, परिजन, यश सोचते जावो ये सब भी मेरे नहीं हैं। यदि इन सबसे विविक्त निज अंतस्तत्त्वकी दृष्टि नहीं की जा सकती है तो अपनेको धर्मी माननेका अभिमान छोड़ दीजिए। धर्म वहाँ ही आयगा जहाँ इस आत्मस्वरूपका भान हुआ। जहाँ आत्मस्वरूपका भान होता है वहाँ सहज वैराग्य प्रकट होता है। इन प्राणोंसे भी भिन्न केवल ज्ञान दर्शन प्राणोंमें तन्मय निज आत्मस्वरूपकी भावनामें ही हमें शान्तिका मार्ग मिल सकता है।

अगुरुलघुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा ॥३१॥
केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।
विजुदा य तेहिं वहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥३२॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पदार्थपरिणमन—अगुरुलघु गुण अनन्त होते हैं। उन अनन्त गुणोंसे परिणमन करने वाले समस्त पदार्थ हुआ करते हैं। उनमेंसे यह जीवपदार्थ प्रदेशोंकी अपेक्षा तो असंख्यात प्रदेशी है, पर कदाचित् समस्त लोकको भी प्राप्त हो जाता है। कोई जीव यों व्यापक है, सर्व लोकमें विस्तृत है। केवल लोकपूरण अवस्थामें अरहंत देवके आत्माके प्रदेश सर्वलोकमें व्यापक होते हैं। और अनेक संसारी जीव अव्यापक हैं। अनेक जीव मिथ्यात्व, कषाय और योग से युक्त हैं और अनेकों जीव मिथ्यात्व आदिक विभावोंसे रहित हैं। कोई जीव सिद्ध हैं और कोई संसारी हैं।

जीवभेदविस्तार—इन दो गाथावोंमें जीवका भेदविस्तार बताया गया है। पदार्थोंमें अगुरुलघुत्व गुण हुआ करता है जिसके प्रभावसे ये पदार्थ प्रति समय परिणमते रहते हैं। एक परिणमनके बाद इसका परिणमन होनेमें वृद्धि-हानि हुआ करती है। किसी-किसी समय तो मोटे परिणमनमें वृद्धि-हानि नजर आती है और कहीं नहीं नजर आती है। लेकिन यह निर्णय है कि वृद्धि-हानि हुए बिना दूसरा परिणमन नहीं हो पाता। न हो कुछ भी वृद्धि, न हो कुछ भी हानि तो वह दूसरा परिणमन ही क्या? जो शुद्ध परिणमन भी होते हैं उन शुद्ध परिणमनोंकी भी यही पद्धति है। वहाँ पर भी वृद्धि हानि होती है। यह वृद्धि हानि विकाररूप नहीं, किन्तु यह पदार्थके स्वभावमें शामिल है। कोई-सा भी काम अपनेको व्यवहारमें जो दिखता है उसमें भी वृद्धि हानि चल रही है। कोई एक पुरुष आधा मनका बोझ हाथपर उठाये खड़ा है बिल्कुल स्थिररूपसे, हिलता डुलता नहीं हैं, हमें नहीं मालूम पड़ रहा है, पर उसके भीतर सूक्ष्मरूपमें कितनी हलन-चलन और वृद्धि हानि हो रही है? इसे वही अनुभव कर रहा है।

शुद्ध परिणमनमें भी नूतनत्व—एक दीपक या बल्ब आधा घन्टे तक एक-सी स्पीडमें जल रहा है, कहीं बिजलीके तारमें कुछ खराबी भी नहीं है जिससे वह कभी मंदा और कभी तेज हो जाय। एकसा जल रहा है, इतनेपर भी इस बिजली विभागके जानकार जानते हैं कि प्रति सेकेण्ड अथवा उसके भी कई भागमें जो नई-नई रोशनी हो रही है उस बीचमें वृद्धि हानि हो जाती है। किसी किसी समय तो अपनेको भी मालूम पड़ जाता है कि जगमग हुए बिना यह प्रकाश नहीं हो सकता। जगमग मायने वृद्धि हानि। जग मायने वृद्धि, मग मायने हानि। जग गया, उठ गया, मग गया, अन्दरकी ओर संकुचित हुआ तो वृद्धि हानि बिना परिणमन नहीं हुआ करता। ऐसी शक्ति प्रकृति प्रत्येक पदार्थमें है। उनसे भी षट् स्थान पतित वृद्धि हानिरूप अविभाग प्रतिच्छेद सिद्धान्तमें कहे गये हैं। उन गुणोंसे ये समस्त अनन्त जीव प्रति समय परिणमते चले जा रहे हैं।

परिणमनस्वरूपके अवगमसे शिक्षा—जिसे हितको धुन हो उसे सब बातोंमें शिक्षा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिल जाती है। जिसे हितकी धुन नहीं है, साक्षात् शिक्षाके वचनोंमें भी उसे शिक्षा नहीं मिलती। यहाँ यह शिक्षा ग्रहण करते हैं कि जब पदार्थ अपने आपमें पाये गये अगुरुलघुत्व गुणसे परिणमते रहते हैं तब किसी भी पदार्थमें मेरा क्या अधिकार है, मेरा क्या कर्तव्य है ? अपने आपके स्वरूपको सम्हालकर फिर इस तत्त्व मर्मको निरखिये। यह मैं आत्मा क्या हूं, कितना हूं, क्या कर पाता हूं ? जरा अन्तर्दृष्टि करके निरखिये। मोह ममताके रंगमें आपको कुछ भी लाभ न होगा, सदा सूनेके सूने ही रहोगे। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। यदि कोई किसीका बन जाता तो आजको यह संसार भी न मिलता, सर्वापहार हो जाता, सर्वशून्यता आ जाती। ये सबके सब अब तक हैं, यह इसी बातका प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने स्वरूपका अधिकारी है, कोई किसी दूसरेके स्वरूपका अधिकारी नहीं। ऐसा जानकर हे भव्य पुरुषो ! अपने आपमें सन्तुष्ट रहनेकी प्रकृति बनावो। किसी परपदार्थमें चित्त बसाकर सन्तुष्ट होनेका यत्न मत करो, अन्यथा कई गुणा कष्ट पाओगे। अपने आपको सम्हाल लो।

स्वावलम्बनकी सीख—यह जैन शासन स्वावलम्बन सिखाता है, अपने मनको सम्हाल लो। अपने इन विकल्पोंपर संयम पा लो, फिर कहीं आकुलता नहीं है। मेरा तो कुछ है नहीं उसे दिलमें बसाया है, उसे अपना माना है। अरे क्या पहिले था या आगे रहेगा, और अब भी क्या कोई आपका साथी है। व्यर्थके मोहका रंग इतना तीव्र चढ़ाकर यह जीव दुःखी हो रहा है। यह वस्तुस्वरूप हमें यह सिखा रहा है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। मैं किसीका कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, किसीका स्वामी नहीं। किसी अन्य पदार्थसे मेरा रंच भी सम्बंध नहीं है। भले ही चाहे बड़ी शक्ति लगाकर लीनता करें, पर कोई अपना नहीं हो पाता।

मिथ्यावासनासे हानि—भैया ! कंजूस लोग इस वस्तुस्वरूपकी दृढ़ताके कारण दुःखी रहा करते हैं। एक तो कंजूसी कर करके धन जोड़ा, और जब यह देखा जाता कि यह धन उसका रहता नहीं है, पाससे छूट रहा है तो कोशिश तो बहुत करता है कि यह मेरा बनकर रह जाय, पर वस्तुस्वरूपका उल्लंघन कौन कर सकता है ? मिटता है, बेकार होता है, उसे बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है। अरे उस कंजूसीसे लाभ क्या मिला ? जीवनभर दुःखी रहे और मरते समय तो बुरी हालत करके मरे, छूटा आखिर सब कुछ। रहा यह अकेलका ही अकेला, पर उस मोहके स्वप्नमें अनेक नाटक कर डाले गये।

जीवका परिमाण—प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है। आपका किसी भी पदार्थमें कोई दखल नहीं है। ये समस्त जीव अपने-अपने अगुरुलघुत्व गुणके कारण परिणमते चले जा रहे हैं। ये सब जीव कितने परिमाणके हैं ? इनमें प्रदेश असंख्यात हैं प्रत्येक जीवमें। कदाचित् ये जीव लोकमें फैल जायें, व्यापक हो जायें। यह ज्ञानपुञ्ज तो समस्त लोकमें व्याप सकता है।

जीवकी व्यापकताका अवसर—जीवकी यह व्यापक अवस्था हुआ करती है, लोकपूरण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समुद्घातमें। अरहंत भगवानके जिनके चार घातिया कर्म तो नष्ट हो चुके, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिया कर्म शेष रहे। तो जब कुछ अन्तिम निकट समय आता है उस समय करीब करीब यह स्थिति रहा करती है कि आयु कर्म तो थोड़ा रह गया और बाकी तीन कर्म बहुत लम्बी स्थितिके रह गये, आयु अभी नहीं मिटी। यदि सिद्ध होंगे तो यों नहीं होते कि पहिले आयु मिट जाय जब नामकी गोत्रकी स्थितिका नम्बर आयगा मिटनेका तो वह मिट जायगा। चारों अघातिया कर्म एक साथ नष्ट होते हैं, उनकी प्रकृतियोंमें एक समय का तो अन्तर हो जायगा। कुछ प्रकृतियाँ द्विचरमसमयमें क्षय होंगी और कुछ प्रवृत्तियाँ चरम समयमें, पर इतनेका क्या अन्तर है? यों ही समझिये कि चारों अघातिया कर्म एक साथ नष्ट होंगे।

केवलिसमुद्घातकी परिस्थिति—अब यह बानक कैसे बने? आयुकी तो थोड़ी स्थिति है और बाकी कर्मोंकी बड़ी स्थिति है तो इस समय स्वभावतः समुद्घात होता है। समुद्घात का अर्थ है—अपने मूल शरीरको न छोड़कर बाहरी आत्माके प्रदेशोंको भूल जाना। अरहंत प्रभु यदि पद्मासनमें विराजे हों तो एक घूंटेसे लेकर दूसरे घूंटे तकका जितना क्षेत्र है, फैलाव है उतनी ही मोटाईमें उनके प्रदेश नीचे जाते हैं और ऊपर फैलते हैं। फिर दूसरे समयमें अगल-बगलमें फैलने लगते हैं जहाँ तक उन्हें लोक मिलता है, वातवलयोंमें नहीं और शेष लोकोंमें फैल जाते हैं। इसके पश्चात् पीठ और पेटकी तरफ उनके प्रदेश कहाँ तक फैलते हैं जहाँ तक वातवलय नहीं आता, फिर इसके बाद जो शेष वातवलय रह गये थे उनमें भी ये प्रदेश फैल जाते हैं। अब लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचता जहाँ इस अरहंत आत्माका प्रदेश न हो। ये सब एक-एक समयकी बातें हैं। अब इसके बाद संकोच होना शुरू होता है। तो जैसे-जैसे यह फैला तैसे ही तैसे यह सिकुड़ा और अन्तमें अपने शरीरमें समा जाता है। इस प्रक्रिया में प्रायः वे तीन कर्म आयुकर्मके बराबर हो जाते हैं। यदि थोड़ीसी कसर रह गयी है तो इसके बाद ही बराबर हो जाती है। जिसे कहते हैं समुद्घात। इसके बाद अन्तमें कर्मोंको एक साथ दलकर के मुक्त हो जाते हैं।

जीवपरिमाणका विविध विस्तार—देखो यह जीव लोकपूरण समुद्घातमें लोक भर में फैल गया, बाकी समयोंमें तो यह जीव देहप्रमाण रहता है। और अन्य समुद्घातोंमें कुछ फैलकर भी असंख्यात प्रदेशोंमें ही कहीं फैला हुआ है, पूरे लोकमें नहीं फैला। यह तो प्रदेशों की बात है। ज्ञानभावसे तो लोकालोकमें व्यापक है। अपने आपके अन्तःस्वरूपका ज्ञान महा-विज्ञान है। इस ही को लक्ष्यमें लेकर कुछ अनेक दार्शनिकोंने इसका स्वरूप बताना चाहा, पर स्वरूपदृष्टिमें न होनेसे स्वरूपका बताना विभिन्न रूपोंमें हो गया है और कुछ ऐसा लगने लगा कि दूसरेकी कहानी कही जा रही हो, अपने आपके इस स्वरूपका भान हो, स्याद्वाद

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पद्धतिसे स्वरूपका निर्णय हो तो ये सब बातें स्पष्ट अपने आपके ज्ञानमें आ जाती हैं। ये सब जीव कोई तो व्यापक हैं, कोई अव्यापक हैं।

विकार व विकास—इन जीवोंमें कोई जीव तो मिथ्यात्वसे रंगे पँगे हैं और कोई मिथ्यात्वके रंगसे मुक्त हो गये हैं। मिथ्यात्व नाम है किसका ? मिथ्या शब्द मिथ् धातुसे बना है, जिसका अर्थ है दो का मेल। लोग तो मिथ्याका अर्थ "झूठ" बताते हैं, पर मिथ्याका अर्थ झूठ नहीं है। मिथ्या मायने दो का मेल। यह मिथ्या शब्द मिथुन या मैथुन शब्दसे बनता है ! दोके सम्बन्धको दोके मेलको मिथ्या कहते हैं। यह मेरा है—इस तरह दो के सम्बन्ध का विकल्प रखना इसका नाम है मिथ्या। चूंकि दोका सम्बन्ध सही नहीं है इसलिए मिथ्याका अर्थ लोगोंने लगा दिया झूठ, और यह ठीक भी है, पर सही अर्थ झूठ नहीं है। मिथ्याका झूठ अर्थ तो फलित है। कितने ही जीव मिथ्यात्वके रंगसे रंगे पंगे हैं। यह देह मैं हूं, यह घर मेरा है, यह भैया मेरा है, ये हमारे घरके लोग हैं, इनके लिए तो जान तक न्यौछावर हो जाती है। सब कुछ इनके ही लिए तो है। कितना अज्ञानका अंधेरा छाया है, जीवके स्वरूपका भान ही नहीं हो पा रहा है। यदि स्वरूपका भान होता तो इसकी दृष्टिमें वह चैतन्य नजर आता जो सब जीवोंमें एक समान है। अनन्तानन्त प्राणी इस मिथ्यात्वके मलसे मलिन हैं और कोई बिरले ही ज्ञानी संत व प्रभु परमात्मा ऐसे हैं जो मिथ्यात्वके रंग से मुक्त हैं।

भ्रमका महाक्लेश—भैया ! भ्रमका बड़ा क्लेश होता है। एक कहानी है— देहातके १० मित्र जुलाहा किसी गाँवके बाजारमें कपड़ा बेचने गये। बेचकर लौटे तो रास्तेमें नदी पड़ती थी। जाते समय तो बेचनेकी धुन थी, कोई विकल्प नहीं हुआ। बेच करके आये, काम करके आये ना, तो चित्तमें वह उत्सुकता नहीं है ना, तो विकल्प चले, नदीसे पार होकर जब किनारे पहुंचे तो उनमें से एकने कहा कि आवो अपन गिन तो लें। दस लोग गये थे, दसोंके दसों लोग हैं कि नहीं। तो एकने गिना निगाह डाली तो उसको ९ ही लोग नजर आये। कहा कि अरे ९ ही लोग रह गये। एकका पता ही नहीं है। यों ही सभीने गिना तो सभी को ९ के ९ ही नजर आये, सभी खुदको गिनना भूल गये। सोचा कि अपनमें से एक मित्र नदीमें बह गया होगा। सभी दुःखी हो गये, रोने लगे, पत्थरोंसे अपना सिर फोड़ने लगे। अरे भाई कौन मर गया बतावो तो सही ? बस मर गया कोई एक मित्र। लो खुदको गिनना सभी भूल गये। भ्रमवश यह हालत हो गयी, सभीके सिरसे खून बहने लगा। एक कोई सूझता पुरुष उसी रास्तेसे जा रहा था, पूछा—भाई ! आप लोगोंकी क्यों यह हालत हो गयी है ? सभीने सारी कहानी बतायी। बताया कि हम लोग १० मित्र कपड़ा बेचने गये थे। अब हम ९ मित्र ही रह गये हैं। एक हमारा मित्र नदीमें डूबकर शायद मर गया है। तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसने सरसरी निगाहसे देख लिया कि दसोंके दसों तो हैं। पूछा—भाई कौन नहीं है ? सभी ने खुदको छोड़कर ६ लोगोंको गिनकर बताया। उस सूझते पुरुषने बताया कि हम तुम्हारे १०वें मित्रको बता देंगे। तो उन्होंने समझा कि इसने कहीं देखा होगा तो हमें हमारे मित्रको बता देगा। सभी बड़े खुश हुए और कहा बतावो। उसने क्या किया कि सभीको एक लाइन में खड़ा किया, एक हाथमें एक डंडा लिया और एक तरफसे एक एक डंडा धीरे धीरे मार कर बताता जाय—देखो एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ और १०वें को जरा जोरसे मारे ताकि ध्यान रहे, कहा १०वें तुम हो, यों ही सभीको अंतमें जोरसे मारकर बतावे कि १०वें तुम ही हो। तो भाई जब भ्रम था तब उन्हें कितना कष्ट या कितनी विह्वलता थी, कितना अंधेरा था ? जब भ्रम मिट गया तो यद्यपि सिरसे खून अभी भी बह रहा है, बंद नहीं हुआ है, फिर भी वे आकुलित नहीं हैं। भ्रममें बहुत बड़ी आकुलता होती है।

संसरणका मूल भ्रम—भ्रमवश ही लोग इस संसारमें भटक रहे हैं। मेरा यह गया, मेरा वह गया, मेरा यह मिटा, मेरा वह मिटा। अरे इसमें किसीको मिटनेका क्लेश नहीं है। क्लेश तो इस बातका है जो परपदार्थको मान लिया है कि यह मेरा है, इस कारण जब तक भ्रम है तब तक यह दुःखी रहेगा। सभी जीव मिथ्यात्वके रंगमें पगे हुए हैं, वे इस देहको ही अपना सर्वस्व समझते हैं। कुछ ही बिरले जीव मिथ्यात्वसे छूटे हुए हैं।

कषाय और योगका प्रभाव—अनेक जीव कषायसे युक्त हैं, और कुछ बिरले जीव कषायसे रहित हैं। जिन जीवोंके मिथ्यात्व पाया जाता है उनके कषाय तो अवश्य होती है और जिन जीवोंके कषायें पायी जाती हैं प्रायः उनके मिथ्यात्व होता है, पर नियम नहीं है, कषाय हो उसके साथ मिथ्यात्व हो भी सकता, नहीं भी हो सकता है, इससे समझिये कषायका रंग मिथ्यात्वसे हल्का है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि साधु-संत पुरुषोंके भी परिस्थितिवश कषाय जगती है, पर मिथ्यात्व नहीं है, अनेक जीव कषायसे युक्त हैं और बिरले जीव कषायसे रहित हैं। कर्म आश्रयका कारण है योग। प्रदेशोंका सकम्प हो जाना, हलन-चलन होना योग है। अनन्त जीव योगसे सहित हैं और बिरले जीव योगसे रहित हैं।

जीवविस्तारविवरणसे शिक्षा—यों इन सब जीवोंमें एक प्रकरणवश इतने भेद कर लिये हैं। उनमें अनन्त तो सिद्ध जीव हैं और सिद्ध जीवोंसे अनन्तगुणे संसारी जीव हैं। यों समस्त जीव सिद्ध और संसारी इन दो भागोंमें विभक्त हैं। हम इस कथनसे यह शिक्षा लें कि सर्व प्रकारकी आशाका त्याग करके यहाँ तक कि जीनेकी भी आशा न बनायें, और अन्तरङ्ग में यह देखें कि शुद्ध जीवोंके सदृश परमानन्दस्वादसे तृप्त अथवा आनन्दमय यह शुद्ध जीवास्तिकाय ही दृष्टिमें लेने योग्य है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरं पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि ॥३३॥

दृष्टान्तपूर्वक जीवकी देहप्रमाणताका कथन—जैसे दूधमें पद्मरागरत्न डाल दिया जाय तो वह समस्त दूधको अपने रंग रूपसे प्रकाशित करता है, इसी प्रकार यह जीव देहमें स्थित होकर अपनी देहमात्रको प्रभासित करता है। इस गाथामें जीवकी देहप्रमाणताका वर्णन किया है। जैसे दूधमें पद्मराग रत्न डाल दिया जाय तो जैसा उसका रूप है वही रूप समस्त दूधमें फैल जाता है, इसी प्रकार यह जीव अनादिकालसे कषायोंकी मलिनताके कारण शरीरमें रहता चला आया है। जब जिस शरीरमें रहा तब अपने प्रदेशसे उस शरीरमें व्याप करके रहा।

एक देहमें जीवप्रदेशोंका संकोच विस्तार—जैसे उस ही दूधमें पद्मराग पड़ा है और उसे गर्म करके चूल्हेपर रख दिया तो अग्निके संयोगसे वह दूध उबलने लगता है। मानो सेर भर पानी है तो वह डेढ़-दो सेर दूध जितनी जगह घेर लेता है। उस उफानमें भी उस रत्न का रंग रहता है और जब अग्निके कम हो जानेसे उस दूधका उफान शान्त हो जाता है तो वह रंग भी संकुचित हो जाता है। इस ही प्रकार इस शरीरमें विशेष आहार देने आदिके कारण जब यह शरीर बढ़ता है तो जीवके प्रदेश भी फैल जाते हैं, और जब यह शरीर बुढ़ापे आदिके कारण या आहार देनेका सुयोग न होनेके कारण दुर्बल होता है, घटता है तो ये जीव के प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं।

देहान्तरमें जीवप्रदेशोंका संकोच विस्तार—जैसे वही पद्मराग रत्न एक बर्तनमें से निकालकर किसी बड़े दूध वाले बर्तनमें डाल दिया तो जो रंग पहिले थोड़े दूध वाले बर्तनमें चमक रहा था वह बड़े बर्तनमें फैलकर चमकने लगा। ऐसे ही यह जीव किसी छोटे शरीर को छोड़कर किसी महान शरीरमें पहुंच जाता है तो अपने प्रदेशोंके विस्तारसे उस महान शरीरमें पहुंच जाता है तो अपने प्रदेशोंके विस्तारसे उस महान शरीरको व्याप लेता है। वही पद्मराग रत्न पहिले दूध वाले बड़े बर्तनसे निकालकर छोटे बर्तनमें थोड़े दूधमें डाल दिया जाता है तो वह रंग प्रकाश संकुचित होकर उतनेमें ही फैलता है। ऐसे ही यह जीव बड़े शरीर से निकलकर छोटे शरीरमें आया तो अपने प्रदेशोंका संकोच करके अपने पाये हुए अणु शरीर में ही व्यापकर रह जाता है।

जीवके आकारकी सापेक्षता—इस जीवका आकार, चूंकि यह जीव भावात्मक पदार्थ है, इस कारण इसका स्वयंका स्वयंके कारण कोई आकार नहीं हो सका। जीवमें आकारकी प्रमुखता नहीं है, भावोंकी प्रमुखता है। कोई जीवके आकारका विचार बनाकर जीवके फैलाव को दृष्टिमें लेकर क्या आत्मानुभव कर सकेगा? मैं जीव इतना बड़ा हूं, पैरोंसे लेकर सिर तक इतने लम्बे चौड़े मोटे विस्तार वाला हूं, इस ही को नजरमें रखिये और जीवके आकारको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निरखकर आत्मानुभव किया जाय तो आत्मानुभव नहीं होता। मैं जाननमात्र हूं, इस ज्ञान-स्वभावको दृष्टिमें लिया जाय, यही एकमात्र उपयोगमें रहे वहाँ आत्मानुभव हो जायगा। इसीलिए बताया है—ज्ञानं एव आत्मा। जो ज्ञान है वही आत्मा है। इस जीवका आकार अनादि कालसे शरीरकी अपेक्षा रहा आया है। जितने शरीरमें यह जीव रहा उतने शरीरप्रमाणमें यह जीव फैलता रहा, सिकुड़ता रहा। संसारअवस्थामें यह जीव सदा देहप्रमाण रहा और मुक्त अवस्थामें भी इस जीवके अपने ही सत्त्वके कारण कोई आकार नहीं बना, किन्तु जिस देहसे यह मुक्त हुआ है, जिस शरीरको छोड़कर यह सिद्ध भगवान बना है उस शरीरके परिमाण (बराबर) सिद्धके आत्माका परिमाण हुआ है।

आत्मानुभवमें स्वभावदृष्टिका वियोग—जीवका स्वरूप बतानेके प्रसंगमें आकार बताया जा रहा है, किन्तु आत्मानुभवके लिए यह विषय मुख्य न बनेगा। जानकारी होना हर प्रकार जरूरी है। अपने आपके सम्बंधमें अपनी सब जानकारी होनी ही चाहिए। सर्व प्रकारकी जानकारी रखकर फिर यह अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर लेगा। कोई कहे कि इस जीवके बारेमें और बातोंकी विचार करनेकी क्या जरूरत है? जीव कर्ता है, भोक्ता है अथवा नहीं है, देह बराबर है, इतने प्रदेश हैं, इन सब बातोंके समझनेकी क्या आवश्यकता है? आत्मानुभूतिके लिये तो एक अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर लिया जाय, किन्तु बात ऐसी होनी नितान्त कठिन है। हम जीवके सम्बंधमें जब बहुमुखी परिचय पायें तो हममें वह पात्रता जगेगी कि हम अपनेको तब ज्ञानमात्र भावनामें लेकर अनुभव कर सकें।

देहोंकी संतति—इस जीवने मिथ्यात्व रागादिक विकल्पोंको कर करके जो कर्म उपार्जित किया है, जिसमें शरीर नामक कर्म भी है, उसके उदयसे जब जो शरीर मिला है उसके अनुकूल इसका विस्तार और उपसंहार होता है। यह जीव बड़ीसे बड़ी देहकी अवगाहना पाये तो एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा महामत्स्यका शरीर पा लेता है और छोटेसे छोटा शरीर पाये तो घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण छोटा शरीर पा लेता है। घनांगुलका अर्थ है एक अंगुल लम्बा, एक अंगुल चौड़ा और एक अंगुल मोटा, उसका असंख्यातवां भाग, अब सोच लो कितना छोटा होता होगा? इतना छोटा शरीर पा लेता हैं। इस जीवने क्षेत्रपरिवर्तनमें इस अणु शरीरसे एक-एक प्रदेश बढ़-बढ़कर क्रमसे भी महामत्स्यकी अवगाहना प्रमाण शरीर प्राप्त किया। इसमें यह तो नियम नहीं है ना कि जो शरीर पाया है उससे एक प्रदेश और बढ़कर फिर शरीर तुरन्त मिले। कैसा ही शरीर मिले? जब उससे एक प्रदेश बढ़कर कोई शरीर मिला तो उसे परिवर्तनमें शामिल कर लिया। इतने शरीर इस जीवने धारण किये और जब जब जिस शरीरको पाया तब तब उस शरीरको ही आत्मसर्वस्व माना।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देहकी घनिष्ठता—हम आपको जो भी शरीर प्राप्त है उससे भी सुन्दर मजबूत पुष्ट, रंगा चंगा और का शरीर दिख जाय तो उसमें आत्मीयता नहीं जगती, यह मैं हूं ऐसी प्रतीति उसमें नहीं बनती और खुदका अधिष्ठित यह शरीर चाहे दुर्बल हो, काला हो, कुरूप हो उसमें आत्मीयता रहती है। किसी बुड्ढेसे कहो कि तुम वृद्ध हो गये, तुम्हारे गाल बैठ गये, दाँत टूट गये, अब तुम कुरूप हो गये, तुम इससे मोह न करो। देखो यह अमुकका लड़का है, यह कितना सुन्दर है, इससे मोह ममता कर लो तो उससे वह मोह ममता नहीं करता। वह तो अपने ही शरीरसे मोह ममता करता है। उसे तो जैसा भी अपना शरीर मिला, वही रुचेगा। उसे ही अपना सर्वस्व मानेगा। यह सब क्यों हुआ ? इस जीवके अज्ञान बसा हुआ है। इसे अपने ज्ञानस्वरूपकी सुध नहीं है। अरे मैं जिस स्वरूपसे रचा गया हूं वह ज्ञानमात्र है। कितना पवित्र स्वरूप है, उसमें गंदगीका कहीं नाम नहीं है, न इसमें द्रव्यात्मक गंदगी है और न भावात्मक। अपने स्वरूपको निहारो, इस स्वरूपमें अशुचिताका कहीं काम ही नहीं है।

शुचिदर्शन बिना अशुचिभावनासे असन्तोष—हम आप अशुचि भावना भाया करते हैं, शरीर शरीर पर ही दृष्टि रखकर भावना भाते हैं—हड्डी मल मूत्र पीप आदि इसमें सभी गंदे पदार्थ हैं। "दिपै चाय चादर मढ़ी हाड़ पीजड़ा देह। भीतर या सब जगतमें और नहीं घिन गेह॥" इस देहके बराबर घिनावना पदार्थ और कुछ नहीं है। मोह दशामें इस जीवको घिनावनी जगहमें राग होता है। क्या यह बता सकते हो कि इस शरीरमें सबसे अधिक घिनावने पदार्थ किस जगह हैं ? सबसे अधिक घिनावने पदार्थ चेहरेमें मिलेंगे, मुंहपर मिलेंगे। लार, थूक, कफ, नाक आँखका कीचड़ कनेऊ ये सब गंदे पदार्थ इस चेहरेमें ही हैं। लोकमें व्यवहार इस चेहरेको देखकर ही बनता है, लोगोंका आकर्षण चेहरेको देखकर ही होता है और इस चेहरेमें अधिकाधिक मल भरे हुए हैं। यह सब वर्णन कर लेते हैं कि यह शरीर घिनावना है पर इतनेसे सन्तोष नहीं हो सकता। यह क्षणिक भावुकता है। थोड़ी देरको इस शरीरका घिनावनापन नजरमें आया और थोड़ी ही देर बाद इस शरीरसे बढ़कर है भी क्या दुनियामें, ऐसी वासना बना ली। कुछ विचारोंका स्थायित्व नहीं रहता, शरीरको अपवित्र तो देखा पर यहाँ पवित्र भी कुछ है कि नहीं, इसे न देखा। अपने आत्माका स्वरूप निरखो, यह शुचि है, पवित्र है, उत्कृष्ट है। जो अपने इस पवित्र स्वरूपको नहीं निहार पाता है, इसकी ओर विचार भी जो नहीं करता वह यह शरीर अपवित्र है, ऐसा गाता रहता है, वह संतोष नहीं पाता।

शुचि तत्त्वकी भावना—भैया ! शरीर तो अपवित्र है, मगर उसमें कुछ पवित्र भी है कि नहीं ? यदि नहीं है पवित्र तो और भी उलझनमें डाल दिया। जो कुछ भी यहाँ दिख रहा है वह सब अपवित्र ही अपवित्र दिख रहा है। कहीं लोग बड़ी भीड़में थोडी देर बैठ जायें, सभी लोग पसीनेसे लथपथ हो जायें तो इस शरीरकी गर्मीसे बदबू नजर आने लगेगी।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तो जो अपवित्र ही अपवित्र निरख रहा है सब कुछ, कुछ पवित्र भी है इस शरीरमें, इसको पहिचानता भी नहीं है तो वह तो और भी घबड़ा जायगा, इन विचारोंने और दुःखी कर डाला उसे। अरे शरीरकी अपवित्रता जानना तो ठीक है, मगर अपने स्वरूपकी पवित्रताका परिचय न हो तो संतोष कहाँ करेगा यह जीव ? इस जीवका स्वरूप, इस जीवका स्वाभाविक विकास, उस विकासका सामर्थ्य तो इतना है कि तीन लोक तीन कालकी समस्त द्रव्य गुण-पर्यायें एक समयमें ही प्रतिभासमें ले लेता है, किन्तु ऐसी समर्थ विशुद्ध शक्तिका श्रद्धान न होनेसे, चैतन्य चमत्कार मात्र शुद्ध जीवास्तिकायका भान न होनेसे मिथ्यात्व कषाय रागद्वेष इन रूप परिणाम रहा और इन परिणामोंसे जो जैसे कर्म उपार्जित किया उसके अनुसार शरीर शरीरपर शरीर रचते चले जा रहे हैं।

जीव और देहके विज्ञानसे शिक्षण—अब इस प्रकरणमें जीव देहप्रमाण मानकर जानकर क्या शिक्षा लें ? यहाँ इतने संकोच विस्तार हो रहे हैं, कितनी पराधीनता है इस जीव को ? मनुष्य कभी मरकर पेड़ बन जाय तो कैसी-कैसी शरण रहनी, पत्ते, फूल, फल आदि रूपमें यह पसर जायगा। यह अमूर्त जीव ज्ञानदर्शनस्वभाव वाला जीव और कैसा-कैसा इसे पसरना पड़ा, यह आकृतिकी कितनी पराधीनता है ? यद्यपि आकार जीवका कुछ भी रहे उससे जीवको बाधा नहीं है। जीवको बाधा तो दुःखरूप परिणाम हो तब होती है, लेकिन जीव जिनके अंग उपाङ्ग नहीं हैं या ऐसे विचित्र अंगोपांग हैं, वे उन शरीरोंमें रहते फिरते हैं, उनके मोह ममता तो है ही सो दुःख ही चल रहा है। क्लेश जीवके प्रदेशोंके फैलने सिकुड़नेसे नहीं है, क्लेश तो अपने विकारोंसे है, कल्पनावोंसे है। ऐसा उद्यम करना अपना कर्तव्य है कि इन शरीरोंका प्राप्त होना ही समाप्त हो जाय, समाप्त नाम है भली प्रकार पूर्ण पा चुकना। बस पा चुके, अब पानेका काम नहीं रहा। जहाँ पानेका काम नहीं रहा, उसे कहते हैं समाप्त। ऐसा उद्यम करो कि जिससे शरीरोंका मिलना ही समाप्त हो जाय। उसका उपाय है शरीररहित चैतन्यचमत्कार मात्र निज अन्तस्तत्त्वका श्रद्धान बनायें, उपयोग बनायें और ऐसे ही ज्ञानमें अपनेको रमा दें तो यही सर्व संकटोंके विनाशका उपाय है।

स्वतत्त्व और परतत्त्वके प्रयोगमें लाभालाभ—भैया ! अन्य-अन्य पदार्थोंको उपयोगमें लेनेसे कोई लाभ न मिलेगा, क्योंकि वे सब बाह्यपदार्थ हैं, उनको दृष्टिमें लेनेसे इस जीवको निर्विकल्प स्थिति न प्राप्त होगी। निर्विकल्प ज्ञान होनेसे ही, प्रतिभासमात्र लेनेसे ही निर्विकल्पता जगेगी। यह मोह ममता कुटुम्ब धन वैभव जिनको पाकर हर्षमग्न हो रहे हैं, ये सब समागम इस जीवके विकारके, विपत्तिके कारण हैं। अतएव अहित करने वाले हैं। इन समागमोंसे जीवको कुछ भी लाभ नहीं है। अपनेको लाभ तो अपनेको शुद्ध सहज अपने आपमें जो स्वरूप है उतना मात्र अपनेको श्रद्धान करनेसे ही मिलेगा। जिनसे मैं न्यारा हूं उन तकका

http://sahjanandvarnishastra.org/

भी विकल्प न रक्खें। मैं सबसे न्यारा हूं—यह तो ज्ञानके कदममें पहिला कदम है और मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा उपयोग जगना यह उसके बादका कदम है। ज्ञानानुभूतिके लिए जिन से मैं न्यारा हूं उनका भी नाम मत लें, उन्हें ध्यानमें मत लें। मैं न्यारा हूं यह भी सुध न लें, किन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, ऐसी सुध लें, ऐसा ही उपयोग बनावें तो इस स्वरूपकी दृष्टिसे अपनेको ज्ञानकी अनुभूति होगी। देहप्रमाण जानकर यह ध्यानमें लावें कि मैं ज्ञानमात्र हूं। अभी तक भ्रमवश नाना देह पाये, इन देहोंसे छुटकारा पानेमें ही हमारा कल्याण है। अब मैं अपने स्वरूपको संभालूं और देहोंसे छुटकारा पानेका यत्न करूँ।

सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककाय एकट्ठो।
अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजेहिं ॥३४॥

जीवकी प्रवर्तमानता—पूर्व और अपर भवके शरीरोंमें वही-वही एक जीव है। यह नहीं है कि जब जब नवीन शरीर मिला तो उस शरीरके ही साधनोंसे उसमें नया जीव उत्पन्न हुआ। जीव वही है, वह नवीन-नवीन शरीर वर्गणावोंको प्राप्त होता है, तिसपर भी शरीरके साथ जीवकी तन्मयता नहीं है और एक नयसे देखा जाय व्यवहार दृष्टिसे तो इस देहके साथ जीवकी एकता भी है। नय दो प्रकारके होते हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। केवल एकको निरखने वाला निश्चयनय होता है और एक को न निरखकर अनेकको निरखने वाला व्यवहारनय होता है। व्यवहारनयमें बन्धन सम्पर्क ये सब सम्बन्ध विदित होते हैं। निश्चयमें चूंकि यह नय केवल एक को ही निरखता है इस कारण यह सम्बन्ध नहीं बन सकता। इस प्रकरणमें एक अकेला भी देखते जावो और बन्धन भी निरखते जाओ।

जीव और देहकी एकता और अनेकता—क्षीर और नीरकी तरह यह जीव और देह व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो एकार्थ हैं, अभिन्न हैं। जैसे जो स्तनोंसे दूध निकलता है उसही दूधमें दूध भी है और पानी भी है। दूध निकालनेके बाद पानी मिलाया जाय उसकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जो दूध निकलता है उस दूधमें दूध भी है और पानीका अंश भी है, दोनों मिले हुए हैं अथवा दूध निकलनेके बाद पानी डाल दिया तो वे दूध और पानी एकमेक हो जाते हैं व्यवहारदृष्टिमें। वहाँ यह नहीं है कि एक गिलासमें ऐसा दूध हो तो नीचे दूध दूध हो और ऊपरके आधे गिलासमें पानी हो या नीचे पानी हो और ऊपरके अर्द्धभागमें दूध हो ऐसा तो नहीं है। वह जैसे एकमेक मिला हुआ है इस ही प्रकार यह जीव और यह देह भी एकमेक इस सम्बन्धमें है।

जीवकी व्यापकता—यह जीव पूरे देहमें है, इस देहके किसी हिस्सेमें ही नहीं है, समस्त देहमें जीव है और एक जीवकी अनादिसे अनन्तकाल तक अथवा जब तक देह है, तब तक जितने भी देह मिले हैं सबमें यह जीव व्यापक रहा। अथवा एकेन्द्रिय जीवसे तो यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समस्त लोक खचाखच भरा हुआ है। यह जगह जहाँ हम पोल समझते हैं, इस जगहमें कुछ नजर नहीं आ रहा है, पर उस जगहमें एकेन्द्रिय जीव ठसाठस भरे पड़े हुए हैं। जो जीव सर्वत्र भरे पड़े हैं उनका नाम निगोद है। ये निगोद वनस्पतिकायके जीव हैं, ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। कोई तो साधार होते हैं और कोई निराधार होते हैं। जो हरी वनस्पतिके सहारे हैं निगोद वे तो साधार हैं और ये जो प्रत्येकवनस्पतिके बिना सर्वत्र फैले हुए हैं ये निराधार हैं। निराधारका अर्थ यह है कि वे किसी दूसरे जीवके शरीरके आधारपर नहीं हैं। उन निगोद जीवोंका कोई एक शरीर है जिस शरीरके आधार निगोद ही निगोद हैं। वहाँ प्रत्येकवनस्पति नहीं हैं। यों एकेन्द्रिय जीवसे भरा हुआ यह समग्र लोक है।

जीवसमूहकी एकरूपता व नानारूपता—वह जीवसमूह यद्यपि केवलज्ञानादिक गुणों की दृष्टिसे एकरूप है तो भी वे नानारूप हो गये हैं शरीर भेदसे। जैसे नाना रंग वाले कपड़ेमें रखा हुआ स्वर्ण-स्वर्ण तो वह एक ही प्रकारका है, पर भिन्न-भिन्न रंगके वस्त्रमें पड़ा है, ऐसे ही यह जीव अपने आपमें तो एक ही प्रकारका है। हम हैं, आप हैं, सबमें स्वरूपदृष्टिसे एक-रूपता है इस जीवमें, किन्तु देहके सम्पर्कसे इसमें यह नानारूपता बन रही है, और अज्ञान साथ छाया है सो इसे अपना कुछ नहीं दिखता। यह मायारूप इन्द्रजाल ही सब कुछ नजरमें आता है। यह जीव एक देहको छोड़कर नवीन देहमें क्यों उत्पन्न होता है? इसमें रागद्वेष मोह लगा है, शरीरके अपनायतकी बुद्धि इसमें पड़ी है। उन रागद्वेष भावोंसे मलिन होकर कर्मरजसे यह ऐसी चेष्टा करता है कि एक देहको छोड़कर नवीन देहको ग्रहण करता है। यह आत्मा संसार अवस्थामें क्रमसे होने वाले अन्तरके जो नाना शरीर मिलते रहे हैं उनमें जो ही एक शरीरमें रह रहा है वही जीव क्रमसे अन्य शरीरमें चलता है।

शाश्वतताका स्मरण—हम आपकी सत्ता अनादिसे है, कुछ इस भवमें आकर अबसे हम आपकी सत्ता नहीं हुई है, हम अनादिसे हैं और इस देहको त्यागकर भी हम आगे रहेंगे। हमारा सत्त्व शाश्वत है, पहिले भी था, आगे भी रहेगा। अब यह देखो कि इस पहिलेके समस्त कालके सामने और भविष्यके समस्त कालके सामने यह ५०, ६०, ७० वर्षका जीवन कितना अनुपात रखता है? एक बड़े लाखों करोड़ों अरबों योजन वाले समुद्रमें एक बूंद जितने अनुपातमें आता है उतने अनुपातमें भी यह हम आपका १००-५० वर्षका जीवन नहीं है। समुद्रमें एक बूँदका तो कुछ हिसाब हो गया, पर इस अनन्तकालके सामने १०० वर्षके जीवन का कुछ भी हिसाब नही है। कहीं लेखेमें ही नहीं आता। इतने थोड़े कालमें पाये हुए इन सब समागमोंमें इतने काल तो हम मायामें मुग्ध न हों।

निर्मोहताका साहस—भैया! ऐसा साहस बनायें कि जब इस व्यतीत हुए अनंतकाल में अनेक समागम पाये, वे भी नहीं रहे तो वर्तमानमें जो भी समागम मिले हैं उनमें मुग्ध न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हों, क्योंकि ये समागम भी शीघ्र ही बिछुड़ जायेंगे। जो भी पहिले पाये हुए समागम हम आपने छोड़े वे चाहे अपने आप छूट गये हों, चाहे जबरदस्ती छोड़ने पड़े हों, पर वे छूटे कि नहीं ? तो जब हमने अनन्त भवोंके बड़े-बड़े वैभव समागमोंका भी ख्याल छोड़ दिया तो कुछ गिनतीमें भी न आ सकने वाले इस ५०, ६०, ७० वर्षके जीवनमें हम परपदार्थोंका मोह न करें तो हम अपूर्व आत्मीय चमत्कार प्राप्त कर सकते हैं। चमत्कार क्या ? निराकुलता, शान्ति।

धर्मध्यानकी पद्धतियां—धर्मध्यान ४ प्रकारके बताये गये हैं, आज्ञाविचय—भगवानकी आज्ञा मानकर धर्मसेवन करें। भगवानके वचन हम पाल रहे हैं, मंदिर आ रहे हैं, शास्त्र सुन रहे हैं, व्रत पाल रहे हैं, भगवानका वचन है। भगवानके वचन झूठ नहीं होते, ऐसी आज्ञा मानकर धर्मपालनमें लगना, यह भी एक धर्मध्यानका तरीका है। कुछ गहरा चिन्तन करना, मेरा स्वरूप क्या है, ये रागादिक भाव बैरी बनकर, मुझमें ही स्थित होकर मुझे ही बरबाद कर रहे हैं, इनका विनाश हो। रागद्वेषके विनाशमें ही अपना कल्याण है, आदिक चिन्तन करना, यह भी धर्मध्यानकी पद्धति है, और कर्मोंका फल विचारना—ये सब जीव स्वतः तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, पर कर्म सम्पर्कमें क्या-क्या स्थिति बन रही है जीवपर ? कैसे-कैसे फल बड़े-बड़े पुरुषोंको भी भोगने पड़े हैं, ये कर्म बड़े दुर्निवार हैं आदिक कुछ भी चिन्तन करना, यह भी एक पद्धति है, और स्पष्ट उत्कृष्ट एक पद्धति है जिसका नाम है संस्थानविचय। तीन लोक और तीन कालकी बातें परोक्षरूपसे जानना, हम समझते हैं कि इसे अपने उपयोगमें लिए रहें, यह धर्मध्यानकी उत्कृष्ट पद्धति है। इसमें क्या प्रभाव है ? जब हमारी दृष्टिमें तीन लोककी रचना बनी रहे, अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक, इनका विस्तार कैसे-कैसे जीव-समूह और कालकी बात समाई रहे, कितना काल बीता, कितना काल बीतेगा, वर्तमानमें कितना काल है, यह काल और लोककी बात सामने रहे तो उसको व्यसन, पाप, दुर्भावना, कुवासनाको अवसर नहीं मिल सकता। यह एक बड़ी विशिष्ट पद्धति है। और इस पद्धतिका पूर्ण अधिकार साधु जनोंको बताया है।

बहिरात्माका मुख्य कार्यक्रम—यह जीव यद्यपि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव वाला है तो भी अनादिकालसे कर्मबन्धनके वशसे मिथ्यात्व रागादिक विभावरूप परिणमनके कारण द्रव्य कर्ममलोंसे वेष्टित होकर इनका काम केवल एक रह गया बस, एक शरीर छोड़ना दूसरा शरीर पाना। इस संसारी जीवका मुख्य प्रोग्राम क्या है, मुख्य कार्यक्रम क्या है इसको खूब निरख लें। सर्वत्र देख लो, संसारी जीवका यही एक धंधा लगा हुआ है, जन्म लिया, थोड़ासा जिन्दा रहे, कुछ भी गिनती नहीं कि वह कितनासा समय है ? जन्म लिया और मर गये। देखिये जैसे कोई लम्बा-चौड़ा है, मान लो ताड़का पेड़ है, उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पेड़के ऊपर कोई फल लगा है, वहाँसे फल टूटे और जमीनपर आये तो यह बतलावो कि बीच में कितनासा समय लगेगा ? बिल्कुल थोड़ासा समय लगेगा। यों ही जन्मको तो समझ लीजिए। अपनी जगहसे टूटनेकी स्थितिके निकटपूर्वकी दशा और मरणको समझ लीजिए उस जगहपर गिरनेकी स्थिति। तो इस जन्म और मरणके बीचमें कितनासा समय लगेगा ? बिल्कुल थोड़ासा। तो इस संसारी जीवका मुख्य प्रोग्राम एक ही है—जन्म लेना और मरण करना।

धर्मके लगावका अनुरोध—भैया ! जरा दृष्टि तो दो अपने स्वरूपकी ओर। अरे हमें फुरसत नहीं है, बहुत बड़ा काम लगा है। क्या काम लगा है ? मरना और जन्मना। फुरसत नहीं है, और यहाँ भी देख लो कोई धैर्य नहीं रखता, कोई हितके लिए अवसर नहीं देता। बीमार हो जायेंगे तो दो महीना खाटपर पड़े रहेंगे, पर यह न होगा कि जितने समय हम हट्टे-कट्टे हैं, चलते-फिरते हैं, चलो उतना ही हिसाब लगा लें कि साल भरमें दो महीना बीमार हुए तो दो महीनेके लगभग १४४० घंटे हुए, इतने घंटे बैठे रहे तो इतने ही घंटे साल भरमें धर्म करनेके लिए निकाल लें, ऐसा नहीं हो पाता। इकट्ठा दो महीने खाटपर पड़े रहनेमें ही भला लगता है। कुछ घटना घट जाय महीनों बेकार पड़े रहेंगे, फिर फुरसत रहती कि नहीं ? और मृत्यु हो जाय तब तो फिर फुरसत ही फुरसत है। जितने समय तक हट्टे-कट्टे हैं, बुद्धि चलती है, कुछ ज्ञानदृष्टि कर सकते हैं उतने समय तक तो कुछ धर्ममें समय लगावें। चौबीसों घंटे कोई कमाई भी तो नहीं करता है, किन्तु मनकी ऐसी स्वच्छन्दता है कि मन को गप्पोंमें लगाते रहेंगे, फिजूलके कामोंमें मनको लगाते रहेंगे, पर ज्ञानके काममें, धर्मके काममें चित्त नहीं लगा सकते।

देहविविक्तता—यह जीव अनेक देहोंमें बसकर भी अपने आपके स्वरूपमें ही बसा करता है, देहमें नहीं बस रहा है, इस बातको समझनेके लिए आपका अनुभव प्रमाण होगा। आप अपनी दृष्टिको इस देहकी ओर न लगाकर, अपने ख्यालमें इस देहको न रखकर केवल एक ज्ञानप्रकाश मात्र मैं हूं, ऐसी दृष्टि बनाकर रह जायें तो अपना यह अनुभव चल जायगा कि मैं देहसे अत्यन्त पृथक् हूं, अत्यन्त निर्मल हूं, इस देहसे विविक्त निजस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्व को दृष्टिमें लेनेसे इन शरीरोंके मिलनेकी जो परम्परा चल रही है वह भी समाप्त हो जायगी।

प्रमादका परिणाम—हम आपने आज मनुष्य शरीर पाया है। इस मनुष्य शरीरको पाकर हम आप घमंड बगराते हैं। अरे मगरमच्छ इत्यादिके शरीरोंको तो देखो—और आप लोगोंने प्रायः मगर देखा ही होगा। कितना थूलमथूला अटपटा शरीर इन मगरमच्छ इत्यादि जीवोंका होता है ? ये जीव देखनेमें कितने अटपटेसे लगते हैं, और भी अनेक प्रकारके कीड़ा-मकोड़ोंमें शरीर ऐसे देखनेको मिलेंगे जो बेढब होते हैं, मगर इस जीवको ऐसा अटपट शरीर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिले वहाँ भी उसी तरह नाचता फिरता है, उसी शरीरमें रमता है। चेते नहीं तो ये ही तो शरीर मिलने हैं। यह दो हाथ पैर वाला शरीर बार-बार नहीं मिला करता। कुछ अपने कल्याणकी ओर भी आना चाहिए।

धनका अमहत्त्व—भैया! यह धन ही सब कुछ नहीं है। और सब कुछ क्या, कुछ भी नहीं है। इस धनके बिना भी तो गुजारा हो सकेगा। होता है बहुतोंको देख लो। सम्यग्दृष्टि जीव चाहे भीख माँगकर पेट भर ले, पर वह धनको बड़प्पन नहीं देता, परवस्तुका वह महत्त्व नहीं आंकता। यह तो एक परिस्थितिवश गुजारेकी बात है। इस धन वैभवका महत्त्व देनेसे, इसकी चिन्तामें रहनेसे कुछ काम भी नहीं सरता। जिसके आना होता है, कुछ पता नहीं कि कहाँसे आता है? जिसके नहीं आना होता है, जाना होता है कुछ पता नहीं कहाँ चला जाय?

दृष्टान्तपूर्वक वैभवकी पुण्यानुसारिताका समर्थन—नारियलके फलमें आप बतलावो पानी कहाँसे घुस जाता है? उसका बड़ा मोटा छिलका होता है, जिसमें सूई भी नहीं प्रवेश कर सकती, ऐसे उस मोटे छिलके वाले नारियलके बीचमें पानी कहाँसे आ गया? उसे फोड़ते हैं तो उसके अन्दर पानी निकलता है। और हाथी कैंथको खा ले और दो-तीन दिन बाद उसे लीदमें निकाल दे तो शायद देखा हो कहीं कि वह कैंथ पूराका पूरा निकल आता है, उस कैंथमें कहीं भी छिद्र न मिलेगा, किसी ओर फटी रेखा तक न मिलेगी, और उसे हाथ से उठाकर देखो तो करीब दो तोलेके वजनका वह निकलेगा। अरे जिस समय हाथी उसे निगल गया था तब तो वह करीब पाव भरका था। अब उसका सारा गूदा कहाँसे निकल पाया जब कि उसमें कोई छिद्र आदि भी नहीं है। तो जैसे नारियलके फलमें पानी कहाँसे आ जाता है? कुछ पता नहीं, आ जाता है, ऐसे ही पुण्यके उदयमें ये समागम कहांसे आ जाते हैं? कुछ पता नहीं, आ जाते हैं। जैसे उस कैंथका रस कहाँसे निकल गया? पता नहीं, निकल गया, ऐसे ही पापके उदयमें इष्ट समागम कहाँसे खतम हो गया, निकल गया? पता नहीं। तो इस धन वैभवको इतना महत्त्व देना, उसकी चिन्ता करना, उसमें ही अपना समय बिता देना, यह विवेककी बात नहीं है। ज्ञानोपयोग बनायें, ज्ञानदृष्टि बनायें, इसमें ही आतमा का लाभ है, इसमें ही आत्माको शान्ति मिलेगी, निराकुलता होगी।

उपादेय तत्त्व—यह जीवतत्त्व देहसे अत्यन्त पृथक् है, किन्तु अनादि बन्धनमें कर्मलेप रहनेके कारण नाना अध्यवसानोंसे, विशिष्ट होनेसे यह कर्मजालसे मलीमस हो रहा है। जो इस जीवके विभावमें हो वही चेष्टा करता है। तब इसका फल यह है कि एक शरीर छोड़ा, नवीन शरीर ग्रहण किया। शरीर ग्रहण करना, छोड़ना, ग्रहण करना, छोड़ना, यही मुख्य कार्यक्रम संसारी जीवका बना हुआ है। इस प्रकरणसे हम यह दृष्टिमें लें कि देहसे भिन्न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानादि गुण सम्पन्न जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व है वही सर्वप्रकारसे उपादेय है, ये बाहरी समागम उपादेय नहीं हैं, लक्ष्यमें ये बाहरी समागम लेने योग्य नहीं हैं। यह परिस्थिति है। परिस्थिति ही समझकर उनसे लिपटें, पर करने योग्य बात तो अपने आत्मामें शाश्वत प्रवर्तमान जो ज्ञानस्वभाव है, हमारा प्राण है, सहज स्वरूप है, उस स्वरूपको ही हम दृष्टिमें लें, इसमें ही हमें शान्तिका उपाय मिलेगा। हम ज्ञान बढ़ायें, भेदविज्ञान करें, आत्माकी उपासना करें, इसमें ही हम आपकी भलाई है।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदादा ॥३५॥

अशुद्ध जीवत्वका अभाव—सिद्ध भगवानके स्वरूपके वर्णनमें कहा जा रहा है कि जिनके जीवस्वभाव तो नहीं है, फिर भी उनके सर्वथा अभाव नहीं है। जीवस्वभावसे यहाँ तात्पर्य द्रव्यप्राण और भावप्राणके धारण करनेसे है। सिद्ध भगवानमें जीवत्व नहीं है, क्योंकि द्रव्यप्राण और भावप्राणसे अपने स्वरूपको नहीं रखते, फिर भी उनका सर्वथा अभाव नहीं है। यहाँ मुख्य दृष्टि इस ओर देना है कि दुनियाको और कुछ दार्शनिकोंको जिन्हें जीवस्वभाव का परिचय है वह है अशुद्ध जीवस्वभाव, रागद्वेष आदिक भाव। और अंतरमें चलो तो क्षायोपशमिक ज्ञानादिक भाव इन सब भावोंका सिद्ध भगवानमें अभाव है और कुछ दार्शनिक भी किन्हीं शब्दोंमें ऐसा मानते भी हैं।

दार्शनिकों द्वारा भी अशुद्ध जीवत्वके अभावका समर्थन—कोई दार्शनिक कहते हैं कि जैसे दीपक बुझ गया, इस तरहसे आत्मा बुझ गया। जब तक इसमें जानने समझनेकी चेतना रहती थी तब तक यह अशुद्ध था, संसारमें रुलता था। जब इसकी चेतना बुझ गयी, जानना देखना यह सब दूर हो गया तो उसकी मुक्ति हुई। कुछ लोग तो संसार अवस्थामें भी ज्ञानका स्वभाव नहीं मानते। उनके मंतव्यसे आत्मामें ज्ञानका सम्बंध होता है तब यह आत्मा जानता है। ज्ञानका सम्बंध हट जाय तब आत्माका शुद्ध स्वरूप समझ पायेंगे ऐसा भी मंतव्य है। इन सबकी दृष्टिसे यह कहा है कि ऐसा जीवस्वभाव अब मुक्त अवस्थामें नहीं है, फिर भी सर्वथा जीवका अभाव नहीं है। वही शुद्ध ज्ञान दर्शन केवल ज्ञान दर्शनके रूपसे वहाँ जीवत्व पाया जा रहा है।

अशुद्ध जीवत्वकी औपाधिकता—यह जीवस्वभाव तो कर्मजनित द्रव्यप्राण रूप और भावप्राणरूप है, इनका तो अभाव हो जाता है, और ज्ञान दर्शन प्राणोंका अभाव नहीं होता तब तक सिद्धि भी नहीं होती है, लेकिन ये द्रव्यप्राण नहीं हैं, भावप्राण नहीं हैं, इस कारण सर्वथा जीवका अभाव होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। वहाँ शुद्ध सत्ता, शुद्ध चेतना, शुद्ध ज्ञान आदिक शुद्ध भावप्राण रहते ही हैं। हाँ वह देह और देहके सम्बंधसे होने वाले

समस्त उपद्रवोंसे पृथक् हैं । हम आपको जब तक अन्तरङ्ग भावनासे इस शरीरसे न्यारा होने को उत्सुकता न जगेगी तब तक हम आप संसारसे पारकी बाजी वाले नहीं कहला सकते, उसके पथिक भी नहीं रह सकते ।

मनबहलावा व धर्मपालन—जिन पुरुषोंमें धन वैभवका व्यामोह है, धनको ही महत्त्व दिये हुए हैं और उससे भिन्न अपने आपकी सुध नहीं है, ऐसे पुरुष धर्मपालन करके भी जैसे व्यवहारमें कहा करते हैं—क्या अन्तरङ्गमें आत्मीय शुद्ध आनन्दके पानेकी विधि मिल सकती है ? मन रमानेका साधन बनाना और बात है, और विशुद्ध शान्तिकी अनुभूति करनेकी विधि बनानेका काम और है । हाँ इतना भला अवश्य है कि ये ज्ञानी जन विषयोंके, व्यसनोंके प्रसंग से अपना मन नहीं बहलाना चाहते, और एक धर्मस्थानमें आकर अपने परिचयी जीवोंके बीच खड़े होकर अथवा अपने आपके भीतर जो सुखकी वासना लगी है उसकी साधना ठीक बनी रहे और वह इस धर्मके प्रतापसे ही होती है, ऐसा समझकर जो धर्म करनेका श्रम करते हैं वे यद्यपि व्यसनोंमें दिल बहलाने वालोंसे भले हैं, किन्तु यहाँ भी उनका मन बहलावा है, उन्होंने आत्मशान्तिका द्वार भी नहीं निरखा ।

आत्मनिर्णय—अपने आपमें अपनी बात सोच लो कि किसी भी दिन, किसी भी क्षण क्या यह तीव्र उत्सुकता हुई है कि मैं इस जन्म मरण और शरीरके सम्बंधसे सदाके लिए छूट जाऊँ, इसीमें मेरी भलाई है । मोक्ष तत्त्वके श्रद्धानके सम्बंधमें यह बताया है कि यह अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षका स्वरूप जो निराकुलता है उसकी बाट नहीं जोहता । कितने सीधे शब्दोंमें यह बात है—'शिवरूप निराकुलता न जोय ।' बहिरात्मा निराकुलताकी बाट नहीं जोहता, यही मोक्षमें विपरीत श्रद्धा है । रात-दिवसके प्रोग्राम—परिजनसे मोह करना और धन वैभवसे व्यामोह रखना, इसके सिवाय और कुछ है क्या मोही जीवोंका प्रोग्राम ? हाँ है और भी थौड़ासा प्रोग्राम । खाना, लेटना और मल मूत्र निवृत्ति करना, यह और संगमें लगा है । इनके अलावा भी है कुछ प्रोग्राम ? है । ऐसा ही मौज बनाये रहनेके भावसे घंटा दो घंटा भगवानके मंदिरमें दर्शन, पूजन कर लेना, इससे आगे भी कुछ प्रोग्राम है क्या ? नहीं । इससे परेका प्रोग्राम बन जाय तो उसका अज्ञानीकी लिस्टसे नाम हट जायगा । व्यवहारधर्म भी वही करेगा, फिर भी अन्तःप्रकाश है ।

वास्तविक धर्मपालनकी सुगमता—निज काम कितना सुगम और स्वाधीन है, यह जाननहार बुद्धि जाननहारमें ही सीधे रास्तेसे पहुंच जाय, कोई कष्टकी बात नहीं है । अरे उसी रास्तेमें यह बुद्धि नाच गयी है, कहीं अलग नहीं है । उस ही पंथसे अपने अन्तरङ्गमें पहुंच जाय, कोई असुगम काम नहीं है, ये समस्त बाह्य पदार्थ बाह्य ही नजर आयें, इनसे मेरा क्या सम्बंध ? ये मेरे कुछ न होंगे, इनसे मेरा कुछ भला न होगा । व्यर्थके रागद्वेषके बढ़ावामें बढ़े

http://www.jainkosh.org

चले जा रहे हैं। अपनी प्रकृतिमें जरा भी भंग नहीं डालना चाहते। जो जैसी आदत बन गयी, जिसमें रंगे पगे चले आ रहे उसमें अन्तर नहीं डालते, मोह ममता नहीं त्यागना चाहते तो बतावो धर्मकी साधना किस ओरसे आयगी।

मुक्तावस्थामें विभावपरिणमनोंका अभाव--मुक्त अवस्थामें शरीरकी उत्पत्तिके कारण-भूत परिणमन भी नहीं है, मन, वचन, कायके योग नहीं, क्रोधादिक कषायें नहीं, उनके तो कैवल्य है। कैवल्यका अर्थ है केवल वही-वही, अन्य कोई नहीं। जहां केवल आत्माका स्वरूप ही रहे, पर सम्बंध वाली बात नहीं, पर सम्बंध नहीं, उस अवस्थाको कैवल्य कहते हैं। हमें सिद्ध बनना है, ऐसा मनमें उल्लास आता है या नहीं या मुझे अपने इन परिजनोंको इतना होशियार बनाना, सुखी बनाना और इनके बीच अपने आपको प्रभु बनाकर रखना, और लौकिक यश बढ़े, लोकमें मेरा नाम चले, लोग अच्छा कहें, ये सारे खुराफात करना ही इष्ट है या ऐसा भी मानते हैं कि मुझे कोई मत जानो, कोई मत मानो, मैं सबसे विविक्त हूं, मुझे कोई जानता ही नहीं है। मुझे तो सबसे विविक्त केवल निजस्वरूपमात्र रहना है, और मुझे कुछ न चाहिए, ऐसी अन्तरङ्गमें भावना आती है या नहीं। नहीं, ऐसी भावना आती है तो आप अपना बड़प्पन न समझिये, और समझिये कि जैसे संसारके और जीव हैं कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी, बस उनकी बिरादरीमें ही अभी हमारी गिनती है अर्थात् अज्ञान अवस्था ही बनी हुई है। नफा टोटेका असली हिसाब लगाइये।

सिद्धोंका अनन्त प्रताप—यह प्रभु मुक्त जीव, जिनका किसीसे भी वास्ता नहीं है, अपने आपमें विशुद्ध निराकुलताको भोग रहे हैं, निराकुलता स्वरूप है। ये सिद्धप्रभु यद्यपि सांसारिक द्रव्यप्राण और भावप्राणसे रहित हैं तो भी ये बड़े प्रभावशाली हैं। आत्माका क्या प्रताप है? इसे लोग अशुद्ध प्रतापसे कूतते हैं। पुण्यके उदयसे स्थिति अच्छी हुई, कुछ राज्य-पाट हुआ, समागम अच्छा मिला, शरीरमें बल मिला, लोग पूछने लगे, कहते कि यह बड़े प्रताप वाला है। अरे इस आत्माका अनन्त प्रताप तो इसके शुद्ध स्वरूपमें पड़ा हुआ है। यह प्रताप तो उस प्रतापका बिगाड़ है, विकार है, खुरचन है। जैसे किसी बड़े हांडेमें खिचड़ी पकाई जाय। पचासों आदमियोंको जिमा दी जाय, उसके बाद दो एक भिखारी आयें, वे मांगने लगें तो उस बर्तनको खुदेड़-खुदेड़कर जो बचे उसे दे दी जाती, उतनेमें भी उनका पेट भर जाता है, ऐसे ही संसारके ये जितने प्रताप हैं ये आत्माके अनन्त प्रतापकी खुरचन हैं। वास्तविक प्रताप तो इस आत्माके स्वरूपमें पड़ा हुआ है।

अन्त:पुरुषार्थका सन्देश—भैया! किसी दूसरेपर दृष्टि ही मत दो, नहीं तो धर्मके लिए जो कुछ रचना बनायी वह सबकी सब फेल हो जायगी। किसीसे कुछ मत चाहो। ये लोग मुझे अच्छा कह दें, ऐसी रंच भी बात किसीसे मत चाहो। दूरसे जान लो। संसारमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनन्त भव पाये थे ना ? यदि मैं आज मेढक मछली होता तो इस लोककी निगाहमें मैं कुछ कहलाता क्या ? मान लो मैं ऐसा ही होता अथवा गर्भमें ही मर जाता या जन्मते समय मर जाता या कुछ छोटी उम्रमें ही मर जाता, और ऐसे मौके हम आप सबके आये भी हैं कि जिस समय प्राणांत हो जानेको था। अब बच गये तो यह मुफ्तका जीवन मान लो अर्थात् लोकमें हमें कुछ भी अपना प्रताप नहीं करना है, केवल एक आत्मकल्याणके लिए हमें अपनी दृष्टि रखना है। ऐसा ही अवसर मान लो। इतनी बात सदा नहीं बन सकती है तो जब धर्म-पालनका हम कार्यक्रम रचने हैं उस समय तो रहने दें यह बात। यदि इतनी उत्सुकता हममें नहीं आती तब अपनी एक त्रुटि महसूस करें। और इस धर्मपालनकी विधिमें संतोष न मानें जैसा कि आजकल किया जा रहा हो, अपने आपमें अपने प्रतापका अनुभव करें।

शुद्ध विकासकी वचनागोचरता—ये सिद्ध प्रभु जिनकी हम पूजा करने आते हैं, उपासना करने आते हैं, ये अनन्त प्रतापसे युक्त हैं, तीन लोकके विजयी हैं। इनका वर्णन वचनों से नहीं किया जा सकता। आत्मामें इतने अनन्त गुण हैं कि हम आप चाहे उन अनन्त गुणों का अनुभव कर लें, पर उनका वर्णन और उनकी गिनती नहीं कर सकते। जैसे रत्नोंसे भरे समुद्रमें कदाचित् कोई ऐसी बाढ़ आ जाय, उथल-पुथल हो जाय कि पानी कहींका कहीं पहुंच जाय तो वे सारे रत्न आपकी निगाहमें आ गये, पर उनकी गिनती नहीं कर सकते। आप रत्नोंकी जगह रेत रख लें। पानीके उथल-पुथलसे कहीं पानी अगल-बगल हो जाय, रेतका एक ढेरसा दिख जाय तो दिखनेमें तो वह ढेर आ रहा है, पर क्या कोई उन रेतके कणोंकी गिनती कर सकता है ? नहीं कर सकता। ऐसे ही आत्मामें जो चमत्कार है, प्रताप है, अनंत गुण हैं इन सबका आप अनुभव तो कर लें निर्विकल्प स्थिति बनाकर, पर उन गुणोंकी गिनती आप नहीं कर सकते। ऐसे अनन्त गुणोंसे सहित ये सिद्ध प्रभु हैं।

आत्मनिधिकी सुध—जैसे किसी सेठका बालक ५-६ वर्षकी उम्रका था। सेठ जब गुजर गया तो सरकारने उसकी लाखोंकी जायदाद अपनी निगरानीमें ले ली। अब क्या हुआ, उसकी एवजमें ५००) रु० महीना खर्चके लिए उसे मिलने लगे। बालक बड़ा हो गया १९-२० वर्षका। जब तक वह नाबालिग था, गैरसमझ था तब तक वह सरकारके बड़े गुण गाता था, मुझे घर बैठे सरकार ५००) रु० महीना भेज देती है। जब उसकी समझमें आया कि मेरी तो लगभग १० लाखकी जायदाद सरकारके अन्डरमें है तो वह ५००) रु० महीनाका लेना मना कर देता है, मुझे न चाहिएँ ये ५००) रु०। मुझे तो मेरी निधि दी जाय। ऐसे ही इस नाबालिग संसारी जीवकी यह अनन्त प्रताप वाली निधि कर्मसरकारने मानो जब्त कर ली है, उसकी एवजमें यह थोड़ासा विषयसुख बांध रखा है, सो यह अज्ञानी जीव पुण्य सरकारके बड़े गुण गाता है, मेरे तो बड़ा ठाठ है, मेरेको बड़ा मौज है, पुण्यके यह जीव बड़े गुण गाता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जब यह बालिग बन जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है, यथार्थ ज्ञानी हो जाता है तब इन मौजोंको मना कर देता है, मुझे न चाहिए ये जड़ वैभव, मुझे तो मेरी आत्मनिधि चाहिए।

निराकुलताका प्रबन्ध—भैया ! अनन्त प्रताप है इस आत्मामें। निराकुलतासे बढ़कर और कुछ भी नहीं है जीवका सर्वस्व। निराकुलता जिस विधिमें मिले वही तो सबसे बड़ी बात होगी ना। अब खूब सोच लो निराकुलता कहाँ है और कैसे मिलती है ? निराकुलता है मोक्षमें अर्थात् परसम्बंधसे छूट जानेमें, केवल रह जानेमें, निराकुलता है, और उसका उपाय है इस केवलस्वरूपकी भावना करना। मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूं, इतनी उदारता तो लाइये। यदि कुटुम्बमें ही ज्यादा मोह होता है तो औरोंसे मोह करने लगिये कुछ फायदा मिलेगा। यदि जड़ वैभवसे प्रीति है, आसक्ति है तो उसे दूसरोंके उपयोगमें लगाइये कुछ लाभ मिलेगा। परवस्तुवोंमें आसक्ति न होना चाहिए। जब मैं इस देहसे भी अत्यन्त न्यारे स्वरूप वाला हूं तब फिर इस विविक्त आत्मतत्त्वका अन्य कुछ होगा ही क्या ?

चिच्चमत्कारप्रतापकी भावना—ये मुक्त भगवान अनन्त महिमावान हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं। उन्हें इस प्रकार न देखें कि इन्द्रिय आदिक नहीं रहीं, शरीर नहीं रहा तो वहाँ कुछ रहा ही नहीं। अरे अशुद्ध जीवत्व नहीं रहा, पर शुद्ध जीवत्वका तो सद्भाव है। चीज तो वह निखर गयी। जो कुछ सहज है स्वतः सिद्ध है वही रह गया है, ऐसी ही हमारी स्थिति हो, हम केवल रह जायें तो हमारी वह आखिरी मंजिल समझिये यही पूर्ण विश्रामका स्थान है, ऐसा निर्णय करके अन्तः शुद्धापूर्वक अपने स्वरूपके अतिरिक्त समस्त बाह्यपदार्थोंको न्यारा कर दें। मैं सबसे जुदा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूं। इन लौकिक प्राणोंके धारणके बिना, शरीरके सम्बन्धके बिना, समस्त उपाधियोंके बिना अपने सहज चैतन्य चमत्कार ज्ञान दर्शन प्रतिभास स्वरूपसे सदैव प्रतिभाशाली है, बस सब कुछ जाननेमें आ रहा है, पूर्ण निराकुलता बनी है। अब अपने विकाससे रंच भी डगमग नहीं हो पा रहे, ऐसी अत्यंत शुद्धता प्रकट हो जाती है सिद्ध प्रभुमें। वह हम से कुछ जुदी जातिके नहीं हैं। हमारी ही तो चर्चा है। ऐसा ही मैं होऊँ, ऐसी भावनामें ही अपनी भलाई है।

ण कुदोचिवि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होदि ॥३६॥

सिद्धोंमें कार्यकारणताका अभाव—सिद्ध भगवान न कार्यरूप हैं और न कारणरूप हैं, उनमें कार्यकारण भाव नहीं है, इसका समर्थन इस गाथामें किया गया है। जैसे संसारी जीव देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी पर्यायोंके रूपसे उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार सिद्ध भग-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वान किसी विशिष्ट पर्यायरूपसे उत्पन्न नहीं होते हैं इस कारण सिद्ध कार्य नहीं हैं। हम आप संसारी जीव कार्यरूप हैं। यह कार्यरूपता संसारी जीवोंमें कैसे प्रकट हुई है, इसे अब सुनिये।

कारणोंका विवरण—कार्य होनेमें दो कारण होते हैं—एक उपादान कारण और एक निमित्त कारण। उपादान उसे कहते हैं जो कार्यरूप परिणम जाय, अभिन्नकारण। और निमित्त कारण उसे कहते हैं जो उस कार्यरूप तो नहीं परिणमे, किन्तु उस परिणमते हुएमें उपादानके परिणमनमें निमित्तरूप हो। निमित्त उसे कहते हैं जिसका सन्निधान पाकर उपादान तदनुरूप परिणमे, और उस प्रकारका सान्निध्य न मिले तो उस प्रकारका उपादान न परिणमे उसे निमित्त कारण कहते हैं। जितने भी कार्य हैं वे सब उपादान और निमित्त कारण पूर्वक होते हैं। अविशिष्ट कारणकी अपेक्षा तो समस्त पदार्थोंके परिणमनमें कालद्रव्य निमित्त होता है, वह चूँकि अविशिष्ट कारण है, साधारण कारण है इस कारण उसे कारणरूपमें न गिनिये। किसीको वह पदार्थ कारण पड़े, किसीको न पड़े, ऐसा विभाग जिनमें हो सके उनमें ही निमित्त कारणका व्यवहार होता है। कालद्रव्य तो सदैव रहता है और समस्त पदार्थोंके परिणमनमें निमित्त है, इस कारण कालद्रव्यको लोकप्रसिद्धिमें कारण रूपसे नहीं कहा गया।

विशिष्ट निमित्त कारण—अब ऐसे निमित्तकरणका लक्षण कीजिए, और देखिये—जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है, उस घड़ा बनानेरूप कार्यमें मिट्टी तो उपादान है, उपादान कारण उसे कहा था ना जो कार्यरूप परिणम जाय। घड़ा बन गया तो वह मिट्टी ही तो घड़ारूप बन गयी, और उसमें निमित्त कारण हैं—कुम्हार, चक्र, दंड आदिक जो भी उस प्रक्रियामें काम आयें। जिनके सान्निध्य बिना घटकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती वे सब निमित्त कारण हैं। ऐसे ही यह जीव, देव, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्यका शरीर धारण करता है उसमें उपादान कारण क्या है और निमित्त कारण क्या है? इस सम्बंधमें विशेष बात यह समझना कि यह जो पर्याय है यह एक द्रव्यकी पर्याय नहीं है। इसे असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहते हैं। जीव और ये शरीरवर्गणायें, कर्मवर्गणायें इन सबका जो यह पिंड है वह एक भव है, इस कारण इसमें उपादान कारण कुछ एक बताना कठिन है। एक शरीर वाली भवरूपी पर्यायमें किसको उपादान कहा जाय? हाँ चूंकि यह पर्याय भी सामूहिक है तो इसमें उपादान भी सामूहिक है। पुद्गल और जीव ये दो उपादान हैं, पर इनमें भी यदि भेद करके देखें तो जो रागद्वेष कषाय विषय योग आदिक भावरूप परिणमन हैं उन अशुद्ध पर्यायोंका उपादान आत्मा है। और जो शरीर परिणमनरूप कार्य हैं उनके उपादान पुद्गल द्रव्य हैं। खैर ये सब होते कैसे हैं, इसपर दृष्टि दें।

संसारी जीवोंकी सृष्टिमें कारणरूपता—संसारी जीव भावकर्मसे सहित हैं। रागद्वेष आदिक अज्ञानभाव उस उस कालमें तन्मय हैं। वह आत्माके परिणामकी संतति है। एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समयका रागद्वेष आदिक कोई-सा भी भाव इस जीवको नचाता नहीं है, विकार अनुभव नहीं कराता, किन्तु अनेक समयोंका भावकर्म जब उपयोगमें आता है तब वह विकारका अनुभव कराता है और यह संतति विभाव जातिमें अनादिकालसे चली आयी है। अनादि संततिका जो भावकर्मरूप परिणमन है वह कारण है नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवपर्याय होनेका। अर्थात् हमारे मोह रागद्वेष इन सांसारिक शरीर रचनावोंका कारण बन रहे हैं। कैसे कारण और कैसे कार्य बन जाता, यह सब ज्ञान द्वारा ही जाननेकी बात है। उसका ऐसा विशेष विवरण जो इससे अपरिचित हैं, उनको बताया जाना अशक्य है। तभी तो लोगोंकी समझमें न आने के कारण इस सब सृष्टिको एक ईश्वरकी लीला कह दिया जाता है। ईश्वरकी लीला है इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु प्रत्येक आत्मा ईश्वरका स्वरूप ही तो है, उनका स्वभाव, उनका सत्त्व निरखिये तो सब ज्ञानानन्दस्वरूप हैं। जो ईश्वरका स्वरूप है वह सब जीवोंका स्वरूप है। ये सब जीव मोह, राग, द्वेष भावकर्म करके संकल्प विकल्प करके इन भवोंके कारण बन जाते हैं? नर, नारकादिक पर्यायोंके होनेमें ये विभाव कारण हो जाते हैं।

कारणोंके विवरणकी सीमा—अच्छा देखिये भैया! आप तो यह भी नहीं बता सकते कि खिचड़ी कैसे पक जाती है? स्पष्ट बतावो। आप यही तो कहेंगे कि बटलोहीमें पानी डालकर चावल दाल मिलाकर चढ़ा दिये, नीचेसे आग जला दी, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि खिचड़ी पक जाती है। ठीक है, मगर पकते हुए दिखा दो कि देखो यह पक रही है। स्पष्ट बतावो। अरे इतना ही स्पष्ट होता है कि योग्य उपादान हुआ, योग्य निमित्त सान्निध्य हुआ, विभावरूप कार्य हुआ, इससे आगे और क्या स्पष्ट कहें? आप बोलते हैं, बहुत देर तक बोल सकते हैं, क, ख, ग, घ आदिक आप उच्चारण करते हैं, पर हमें यह बता दो कि यह क ख आदि शब्दोंका उच्चारण कैसे हो जाता है? दिखा दो बना हुआ। अरे क्या दिखा दें, हो तो रहा है सब। उपादान और निमित्त सब योग्य सन्निधान होनेपर ये सब कार्य हो रहे हैं। इसका और विवरण क्या करें? कहते हैं ना किसी चर्चामें बालमें खाल निकालना। आप कुछ बता ही नहीं सकते। कैसे क्या कार्य होता है। उनका और स्पष्ट क्या विवरण होगा? यह जीव मोह रागद्वेष भाव करता है उसका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मका बन्ध होता है। अब यह आत्मपरिणामकी संतति और पुद्गल परिणामकी संतति ये कारणभूत बने हैं। देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य पर्यायें उत्पन्न होनेमें यह कारण है। यह सब साधारणतया वर्णन चल रहा है।

अध्यात्ममार्गमें विशिष्ट कार्यका अमहत्त्व—यह सृष्टि ऐसी विचित्र है और ऐसी मायारूप है कि यह सब कुछ है और कुछ नहीं है। तो भावकर्म और द्रव्यकर्म ये तो कारण रूप हैं। कारण पाकर यह जीव देव, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य पर्यायरूपसे जिस प्रकार उत्पन्न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो जाता है उस प्रकार सिद्ध रूपसे जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती कि उनमें कुछ सद्भावरूप कारण रहता हो और इन कारणोंसे कोई विशिष्ट कार्य बनता हो। देखिये सिद्ध अवस्था विशिष्ट कार्य नहीं है और संसार अवस्था विशिष्ट कार्य है। लोग तो विशिष्ट कार्यको महत्त्व देते हैं, पर शान्तिमार्गमें, अध्यात्ममार्गमें विशिष्ट कार्यका महत्त्व नहीं है। विशिष्ट कार्य तो निन्दाके योग्य होता है। जो बात जिस पदार्थमें स्वभावमें नहीं पड़ी है, वह बात हो जाना, इसीका नाम विशिष्ट कार्य है, और जो बात स्वभावमें पड़ी है वह हो गयी, कोई विशेष बात नहीं हुई, जो था जो है वही हुई सिद्ध दशा।

सिद्धावस्थाकी अविशिष्टरूपता—सिद्ध दशा तो अविशिष्ट कार्य है और संसार दशा विशिष्ट कार्य है। सिद्ध भगवान कार्यरूप नहीं हैं। भावकर्म और द्रव्यकर्मका क्षय हो जानेपर स्वयं ही स्वयंमें से विकसित हुई यह सिद्धपर्याय किसी अन्य चीजसे उत्पन्न नहीं होती। कदाचित् यह कहें कि कर्मोंके नाशसे तो सिद्धपर्याय हुई, इसके समाधानमें दो प्रकारकी दृष्टि लगायें, कर्मोंके अभावसे सिद्धपर्याय हुई तो इसमें निमित्त कारण किसे कहा जाय? कर्म तो निमित्त-कारण नहीं होते, क्योंकि वे वहाँ हैं नहीं। हाँ अभावरूप निमित्त कारण है, सो यह एक अपना यों सोचनेके लिए है कि चूंकि कर्मोंका सद्भाव संसार अवस्थाका कारण था। दूसरी बात यह निरखिये कि चलो प्रथम समयकी सिद्धपर्यायका कारण कर्मोंका क्षय है, मगर अनंत-काल तक जो भी सिद्ध दशा बनी रहती है उसका कारण क्या है? कर्मोंका क्षय तो नहीं कह सकते, कर्म हैं ही नहीं। क्षय किसका नाम है? यह सिद्ध दशा जीवकी अकिंचन अवस्था है, इसलिए यह कार्यरूप नहीं है। जो विशिष्ट दशा हो उसे ही कार्यरूपसे निरखा जाता है। ये सिद्ध भगवान किसी भी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होते हैं इस कारण कार्यरूप नहीं हैं।

सिद्ध प्रभुके कारणरूपताका अभाव—सिद्ध प्रभु कारणरूप भी नहीं हैं क्योंकि ये किसी पदार्थको उत्पन्न नहीं करते। जैसे कि संसारी जीव भावकर्मरूप आत्मसंततिको उत्पन्न करते हैं, मोह रागद्वेष विभावोंको उत्पन्न करते रहते हैं तो ये संसारी जीव कारण हुए ना और इसी प्रकार द्रव्यकर्मरूप पुद्गल परिणामोंकी संततिको निमित्तकारण बनते हुए उत्पन्न करते हैं, सो उन कार्योंके कारणभूत बनते हैं, इस कारण ये संसारी जीव किसी कार्यके कारण हुए ना? इस प्रकार कारण बन-बनकर देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक, पर्यायोंको ये संसारी जीव कर रहे हैं। इस प्रकारसे सिद्ध भगवान किन्हीं कार्योंको उत्पन्न नहीं करते, इस कारण सिद्ध प्रभु कारणरूप नहीं है।

कारणकार्यरूपताके बिना शुद्ध सृष्टिका सर्जन—सिद्धप्रभु तो अपने आपके आत्मस्वरूपको रचते रहते हैं। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्दरूपसे अपने आत्माको रचते हुए ये सिद्धप्रभु स्वयं ही कार्यरूप हैं, कारणरूप हैं, ये किसीके न कारण हैं और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

न कार्य हैं । एक तत्त्वकी बात यहाँ यह भी ध्यानमें रखें कि व्यक्तरूपसे सिद्ध भगवानको कार्य रूप और कारणरूप नहीं कहा, फिर भी वहाँ एक नयसे कार्यरूपता और कारणरूपता बतायी जा सकती है, वह हैं शुद्ध रूपमें, किन्तु अपने आप सबके आत्मामें स्वरसतः सहज विराजमान शाश्वत जो चित्स्वभाव है उस स्वभाव लक्षणको देखकर निरखो—यह मैं चित्स्वभावमात्र परमब्रह्म न किसीका कार्य है और न किसीका कारण है । शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें बन्ध मोक्षका विकल्प नहीं है, कार्य कारणका विकल्प नहीं है । यों कार्य कारण भावसे रहित शाश्वत निज चित् रूपका जो ध्यान करता है, आलम्बन लेता है वही पुरुष प्रकट रूपमें शुद्ध पर्याय पाकर कार्यकारण भावसे सर्वथा रहित हो जाता है । यही सिद्ध दशा प्राप्त करनेका उपाय है ।

कार्यका अनुरूप उपाय—सिद्ध अवस्थामें जो जो आपको गुण मालूम हुए उनकी प्राप्तिका उपाय उस ही पद्धतिसे देखना चाहिए । प्रभुमें यह केवलज्ञान कैसे प्रकट हुआ ? यह केवलज्ञान निर्विकल्प है, और अपने आत्मामें जो ज्ञानस्वभाव है वह भी निर्विकल्प है । स्वभावमें विकल्प क्या ? ऐसे निर्विकल्प आत्मस्वभावका जो आलम्बन लेता है, निर्विकल्परूपसे उसका आश्रय करता है ऐसा जीव केवलज्ञानको प्रकट कर लेता है । प्रभुमें यह अनंतआनन्द कैसे प्रकट हुआ है ? थोड़ा-थोड़ा यहाँ भी ऐसा देखा जाता है कि कुछ सुखरूप वार्ताकी चर्चायें होती हैं तो कुछ सुखरूप परिणमन होता है और दुःखरूप वार्ताकी चर्चाएँ चल जायें तो चूंकि दुःखरूप बातोंमें उपयोग है इसलिए कुछ न कुछ खेद भी हो जाता है । यों ही और अन्तरमें चलकर देखिये—आत्मामें आनन्दस्वभाव है, जो शाश्वत अविकार स्वभावरूप है उस आनन्दस्वभावका अनुभव करनेसे, उसे उपयोगमें लगानेसे और ऐसी ही स्थिरता कोई विशेष अन्तर्मुहूर्त मात्र बन जाय तो इस आनन्दस्वभावके आलम्बनसे यह अनन्त आनन्द प्रकट होता है । यह समग्र सिद्ध पर्याय कार्यकारण भावसे रहित है । कार्यकारण भावसे शून्य यह सिद्ध अवस्था हमारे कैसे प्रकट होगी ? उसका उपाय है कार्यकारणभावसे शून्य जो निज ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है उस चैतन्यस्वभावका आलम्बन हो तो उसके प्रसादसे यह कार्यकारणशून्य सिद्ध अवस्था प्रकट होगी ।

हमारी वर्तमान स्थिति—भैया ! हम आप आज जिस स्थितिमें हैं, यह स्थिति बड़ी दयनीय है । थोड़े विषयसाधन पाकर मोहवश कुछ सुख मान रहे हैं । भले ही ये सब साधन आज बड़े सस्ते लग रहे हैं, किन्तु ये विषयभोग जो कि आज सुलभ और सस्ते लग रहे हैं वे भविष्यमें अधिक महंगे पड़ेंगे । संसारी जीवोंका विस्तार तो निरखिये—किस-किस प्रकारके संसारी जीव हैं ? जब कभी कहीं जाते हुए किन्हीं तड़फते हुए जीवोंको निरख लेते हैं, कोई शिकारी सूकर मार रहा हो, बाँधकर छेद रहा हो, किसी पशु-पक्षीके कोई टुकड़े कर रहा हो

http://sahjanandvarnishastra.org/

कोई ऐसी स्थिति देख लेते हैं तो हम आप लोगोंका हृदय कितना व्यथित हो जाता है ? लोग बड़े कोमल चमड़ेके जूते बड़े शौकसे पहिनते हैं जिसे क्रुम बोलते हैं यह किस प्रकार बनायी जाती है, सो देखो बहुत छोटे-छोटे बछड़ोंपर बहुत तेज गर्म पानी फौवारेसे डाला जाता है, जब वह चमड़ा खूब फूल जाता है तो जिन्दा ही खड़े-खड़े उस बछड़ेकी खाल निकाल ली जाती है ताकि चमड़ा मुलायम बना रहे। ऐसे चमड़ेके बने हुए ये जूते आते हैं। तो हम आप जब कहीं तड़फते हुए जीवोंको देख लेते हैं तो हृदयमें महती वेदना उत्पन्न होती है। वह वेदना किस बातसे होती है, जरा अन्तःपरीक्षण तो करें, आप सोचें या न सोचें, पर अन्तरङ्गमें ऐसा स्पर्श होता है कि ओह! हम आप भी कभी ऐसे ही जीव थे। ऐसे ही दयनीय स्थितिमें तो हम आप भी हैं। इस स्थितिमें मग्न मत होओ।

आलम्ब्य तत्त्व—आज पुण्योदयसे सब साधन ठीक हैं, अच्छी स्थिति है, पर यह तो एक नाटक जैसा है, ये सब बिछुड़ने वाली बातें हैं। इन सबके ज्ञाताभर रहो। उसमें मग्न होनेसे, मस्त होनेसे इस जीवको कुछ भी लाभ न मिलेगा। आश्रय लो तो अपनें आपमें शाश्वत विराजमान एक स्वरूपका, जिस स्वरूपकी दृष्टिमें समस्त जीव एक समान विदित होते हैं, जहाँ केवल एक चित्स्वभाव ही दृष्ट होता है। यह मैं हूं—इतनी भी कल्पना नहीं होती। यह मैं हूं ऐसा स्पष्ट रूपमें कल्पना जब बनती है तब उसकी वासनामें यह भी भरा पड़ा हुआ है कि ये सब पदार्थ पर हैं। यद्यपि परको पर जानना, निजको निज जानना पहिली पदवीमें कामकी बात है, किन्तु जिस समय इस चित्स्वभावका अनुभव होता है, उपयोग होता है उस समयमें यह पर है, यह मैं हूं—इस प्रकारका विकल्प न चलेगा। वहाँ तो केवल एक चित्स्वरूप ही दृष्ट होगा।

शुद्ध कार्यतत्त्वका दर्शन—कुछ दार्शनिक लोग यह कह डालते हैं कि यह आत्मा सब कुछ एक है और हम आप सब ये भिन्न-भिन्न जीव हैं। यह जीव जब उस एक ब्रह्ममें लीन हो जायगा, अपनी सत्ता नष्ट कर देगा, ब्रह्ममें ही समर्पित हो जायगा तब वहाँ मुक्ति है। इन वचनोंमें और रहस्य ही क्या है ? यह उपयोग जो रागद्वेषसे सम्बद्ध हो रहा है इस स्वभावमें लीन हो जाय, विशिष्ट उपयोग विलीन हो जाय, केवल एक चित्स्वभावका अनुभव हो तो यही स्थिति मुक्तिका उपाय है। उस निर्विकल्प कार्यकारण भावसे रहित चित्स्वभावका आलम्बन करनेसे यह सिद्ध दशा प्रकट होती है। यह सिद्ध अवस्था शुद्ध निश्चयसे कर्म नोकर्मकी अपेक्षा न कार्यरूप है, न कारणरूप है, किन्तु अनन्त ज्ञानादिकसे सहित है, और कर्मोदयजनित जितने भी विकार हैं उन विकारोंसे शून्य है, यह ही अवस्था उपादेय है और इस अवस्थाके होनेका उपायभूत जो निज शुद्ध स्वभावका आलम्बन है वह ही उपादेय है, यह शिक्षा इस गाथासे मिलती है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ॥३७॥

मुक्तावस्थामें जीवके अभावका निराकरण—कुछ लोग मुक्त अवस्थायें जीवके अभाव को मानते हैं। जब तक जीव है तब तक संसारी है और इस जीवका अभाव हुआ उसीके मायने मोक्ष है। इस प्रकार यदि जीवके अभावका नाम मोक्ष माना जाय अर्थात् मुक्त अवस्थामें जीव के सद्भावका निराकरण किया जाय तो इस जीवतत्त्वके बारेमें, शुद्ध ब्रह्मके सम्बंधमें जो दार्शनिकोंने अपना मंतव्य रखा है उन सबकी कैसे सिद्धि होगी ? और देखिये जीवका अभाव होने पर जो शाश्वतरूपता बतायी जाती है वह किसमें विराजेगी ? यह ब्रह्म शाश्वत है, द्रव्यरूपसे यह जीव अविनाशी है, यह किसमें बताया जावे, क्योंकि तुमने तो अभाव ही मान लिया।

मुक्त अवस्थामें जीवके सद्भावकी सिद्धि—मुक्त अवस्थामें भी जीवका सद्भाव है और इस आधारपर यह कथन युक्त है कि जीव शाश्वत हैं। शाश्वतता तो जीवके अभावमें बनेगी कैसे ? उच्छेद भी नहीं बन सकता। जीव अपनी पर्यायोंको विनष्ट करता है, यह तभी सम्भव है जब जीवद्रव्यका सद्भाव माना जाय। जीवद्रव्य पर्यायरूपसे उच्छेद करता है। यों उच्छेद रूपसे परिणमने वाले कोई पदार्थ हुए ना ? तभी उच्छेद सम्भव हो सकता है। द्रव्य नित्य हो पर्यायोंका प्रति समयमें उच्छेद माना जा सकता है। इस जीवमें और जीवमें ही क्या समस्त पदार्थोंमें भव्यता और अभव्यता दोनों बातें पायी जाती हैं। यह सिद्ध जीव भव्य याने भाव्य भी है और अभव्य याने अभाव्य भी है। जो पर्याय जिस योग्य है, अपनी ही शुद्ध सृष्टियां होने योग्य हैं, वे होवें इसका नाम भव्यता है जो बात अब होने योग्य नहीं है, देव, नारक, तिर्यंच रूपमें यह जीव अब नहीं बन सकता। यह मुक्त जीव अब संसारमें नहीं रुल सकता। तो जो बात नहीं हो सकती है उसका न होना इसका नाम अभव्यता है। जो होने योग्य परिणमन है, शुद्ध सृष्टि है वह हो, यह भव्यता जीवद्रव्यमें तब ही तो मानी जायगी जब कि कोई जीव नामक पदार्थ उस मुक्त अवस्थामें है। सभी द्रव्योंमें भव्यता और अभव्यता पायी जाती है। चाहे वह जीव हो, पुद्गल हो, कोई सा भी पदार्थ हो। जो पर्यायें नहीं है, अभूत हैं, उन पर्यायोंरूपसे होनेका नाम भव्यता है या भाव्यपना है, और जो पर्यायें पहिले गुजर गयी हैं वे पर्यायें उस द्रव्यमें आ नहीं सकतीं, इसलिए यह अभव्यता है।

भव्यता व अभव्यतासे पदार्थकी सिद्धि—जो होने योग्य है उसका होना और जो हो चुका है उसका कभी भी न होना ये दो बातें प्रत्येक पदार्थमें हैं। जैसे जो समय गुजर गया वह समय वापिस नहीं आ सकता। जो गुजर गया सो गुजर गया। कितने ही उपाय करें, उस बीते हुए समयकी वापिसी नहीं हो सकती। ऐसे ही पदार्थमें जो पर्याय व्यतीत हो गयी अब वह गुजरी पर्याय उस पदार्थमें आ नहीं सकती। भले ही उसके समान दूसरा आये अथवा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उससे भी उत्तम दूसरा आये, पर जो पर्याय व्यतीत हुई वह नहीं हो सकती। मुक्तिकी भव्यता व संसारकी अभव्यता है, यह बात तब कही जायगी जब कोई जीव नामक पदार्थ माना जाय।

पदार्थमें शून्यता व अशून्यताका दर्शन—देखो प्रत्येक पदार्थमें शून्यता और अशून्यता पड़ी हुई है। कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्यके रूपसे तो शून्य है। किसी भी द्रव्यमें अन्य कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। प्रत्येक पदार्थ सूना है, कहते हैं ना कि यह घर सूना है, यह कमरा सूना है। सूना है—इसका अर्थ यह है कि इस कमरेमें कमरेकी चीजके अलावा और कुछ नहीं है, सूना है। जब आप रातमें या दिनमें बाहरसे आकर घरकी सांकर हिलाते हैं कि कोई आकर खोल जाय (जब कि किवाड़ भीतरसे बन्द रहते हैं) तो आपके कुटुम्बी जनोंमें से कोई आकर पूछता है कि आप कौन हैं? तो आप क्या उत्तर देते हैं? कोई नहीं। अरे कोई नहीं कैसे? आप सरासर मौजूद हैं, उस कोई नहींका यह अर्थ है कि मेरे अतिरिक्त कोई नहीं, मैं हूं। तो अपनेको ही शून्य बता दिया। और कभी-कभी ऐसा भी कह बैठते हैं कि आप, जब भीतरसे कोई पूछता है कि आप कौन हैं तो आप उत्तर देते हैं कि मैं हूं। अब 'मैं हूं' ऐसा कहनेमें कोई सही जवाब है क्या? मैं हूं का अर्थ है कि मैं ही हूं, परिपूर्ण, अशून्य। आप बिल्कुल दार्शनिकता सम्बंधी झाँकी दिखा देते हैं। अन्य कोई नहीं है, मैं हूं, इसका अर्थ है शून्य होना और अशून्य होना।

मुक्त जीवमें शून्यता व अशून्यताका विवरण—प्रत्येक पदार्थ परद्रव्योंसे शून्य है, किसी पदार्थमें कोई दूसरा पदार्थ नहीं लिपटा है। अरे इस जीवमें शरीर तक तो लिपटा नहीं है। भले ही यह जीव बड़े बन्धनमें है, स्वतंत्र नहीं है, शरीरको छोड़कर कहीं जा नहीं सकता, तिस पर भी शरीर जीवमें लिपटा नहीं है। जीव द्रव्यमें पुद्गल द्रव्यका सत्त्व न प्रवेश कर सकेगा। ये भिन्न-भिन्न ही है यह जीव द्रव्य शून्य है। किसी जीवपदार्थमें अन्य दूसरे पदार्थका अभाव है और यह जीव अशून्य है। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन सबसे परिपूर्ण है। यह बात तभी कही जा सकती है जब जीवद्रव्यका सद्भाव हो। मुक्त जीव शून्य है और मुक्त जीव अशून्य है, पर द्रव्योंका प्रवेश नहीं है इस कारण शून्य है। अपनी शक्तियों का विकास है, उससे परिपूर्ण है, तन्मय है इस कारण अशून्य है।

अनन्तता व सान्ततासे मुक्त जीव पदार्थकी सिद्धि—किसी जीवद्रव्यमें अनन्तज्ञान है और किसी जीवमें सांत ज्ञान है। अथवा एक ही जीवमें मुक्त जीवमें अनन्त ज्ञान है और सान्त ज्ञान है। अनन्त ज्ञान है, यह तो स्पष्ट है। प्रभु अनन्त पदार्थोंको जानते हैं इस कारण अनन्तज्ञान है। प्रभुके ज्ञानका कभी अन्त नहीं हो सकता इस कारण अनन्तज्ञान है, फिर भी जिस समयमें जो ज्ञानपरिणमन हुआ उस ज्ञानपरिणमनमें उस समय उस पदार्थको जाना। दूसरे समयमें द्वितीय ज्ञान परिणमनने पदार्थको जाना। चूंकि उन समस्त ज्ञानपरिणमनोंमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विषय वही का वही रहता है, इसमें भेद नहीं मालूम देता, लेकिन पदार्थमें प्रति समयमें परिणमन निरन्तर चलता रहता है। और जो परिणमन व्यतीत हुआ वह फिर नहीं आता। इस प्रकार वह शुद्ध सदृश ज्ञानपरिणमन भी प्रति समय नवीन-नवीन रहता है। तो जिस समयमें जो ज्ञानपरिणमन हुआ वह अगले समयमें नहीं है, इस कारण वह ज्ञान भी सान्त है। प्रत्येक पदार्थमें पर्यायें सान्त रहा करती हैं। यह ऐसे भी तभी तो कहा जा सकता है जब जीव द्रव्यका सद्भाव माना जाय। ये सब बातें जीवद्रव्य का सद्भाव न मानने पर नहीं बन सकती, इस कारण यह सब वर्णन मुक्त जीवमें, मुक्त अवस्थामें जीवके सद्भावको प्रकट करता है।

अपने उपादेय तत्त्वकी स्वतः सिद्धिपर दृष्टान्त—इस गाथामें यह भी दृष्टि दिलाई गई है कि अपने आपमें यह निर्णय करें कि ऐसा जो शुद्ध तत्त्व है वही उपादेय है, सारभूत है। अन्य किसी पर दृष्टि लगाना हितकारी नहीं है। देखो यह शुद्ध अवस्था टंकोत्कीर्ण ज्ञायक रूपसे अविनश्वर है। हुआ क्या सिद्ध अवस्थामें ? जो था वही हुआ। अन्य कुछ नहीं हुआ। जैसे किसी बड़े पाषाणमें से कोई मूर्ति बनवानी है, कारीगरको बुलवाया, पत्थर दिखाया, और जैसी मूर्ति बनवानी है तैसा चित्र आकार नाप तौल सब बताया तो वह कारीगर एक ही नजरमें उस पत्थरमें मूर्तिका दर्शन कर लेता है। यदि कारीगरको उस पत्थरमें मूर्तिका दर्शन न हुआ होता तो वह उसमें से मूर्ति बना ही न सकता था। वह अब उस मूर्तिके आवरक पाषाणखण्डोंको किस तरह निकालता है, उसकी कला देख लीजिए। कभी वह अटपट छेनी हथौड़े नहीं चलाता है कि जहाँ चाहे मार दे, पत्थरके टुकड़े करदे। वह कारीगर धीरेसे अगल-बगलके मूर्तिके आवरक पत्थरोंको हटाता है और ज्यों-ज्यों उस मूर्तिका कुछ व्यक्त रूप होने लगता है, त्यों त्यों कारीगर और बड़ी सावधानीसे उन आवरक पत्थरोंको निकालता है। और जब पूर्ण व्यक्त रूप हो जाता है तब उसकी सफाईके लिए वह छोटे छोटे औजारोंको अत्यन्त धीरे-धीरे चलाता है और उसे स्वच्छ बना लेता है। लो कारीगरने क्या किया ? लोग कहते हैं कि कारीगरने मूर्ति बना दी। अरे कारीगरने कौनसा नया काम किया ? हाँ नया काम उसने उच्छेदका किया। सृष्टिका कोई नया काम नहीं किया। मूर्तिके आवरक जो पाषाण थे, जो कि मूर्तिको ढके हुए थे उन पाषाणोंको दूर किया, चीज वही जो निकली उसमें थी।

मुक्त अवस्थामें विकासकी स्वतः सिद्धि—टङ्कोत्कीर्ण दृष्टान्तके अनुसार जब इस जीव को यह भान हो जाता है शुद्ध स्वरूपका वर्णन सुनकर ज्ञान करके महिमा जानकर इस प्रकार जब इसकी भावना हो जाती है कि मुझे तो सिद्ध बनना है, सर्व कर्मोंसे विमुक्त होकर केवल बनना है, जब उसकी यह भावना होती है तो उसे इस अपने आपमें जीवमें, जो कि अशुद्ध

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर्यायमें चल रहा है वहाँ भी वह शुद्ध स्वरूप नजरमें आने लगता है। अब यह सम्यग्दृष्टि कारीगर इस ज्ञायकस्वरूपको आवरण करने वाले जो विषयकषायके परिणाम हैं उन परिणामों को दूर करता है। विषयकषायोंका उच्छेद हुआ विभाव दूर हुए कि यह ज्ञायकस्वभाव जो अपने सत्त्वके कारण स्वतः जिस स्वरूपको रख रहा है, बस वह स्वरूप अब प्रकट हो गया। इसीके मायने हैं सिद्ध हो गया, मुक्त हो गया। यह सिद्ध अवस्था कुछ बनाई नहीं गयी, किसी चीज से इसका निर्माण नहीं किया गया, किन्तु इसके व्यक्त करनेके प्रयोगमें उच्छेदका ही काम किया गया है। पहिले तो भेदविज्ञानके प्रयोगसे बहुतसे विभाव परिणामोंका उच्छेद किया, फिर जैसे यह अपने शुद्ध स्वरूपके निकट आया, कुछ व्यक्त होने लगा तो निज अभेद ज्ञानके प्रयोगसे इसने अपने अंतरङ्गमें पुरुषार्थ बढ़ाया, मगर चुप्पी अधिक आयी। अब वे तीव्र योग नहीं रहे जो प्रथम भेदविज्ञानके प्रयोगमें रहते थे। अब लो — इस निज अभेदविज्ञानके प्रयोगसे और भी यह स्वयं व्यक्त हुआ। व्यक्त ही हो गया तब, अब मनका भी वहाँ कोई काम नहीं है, गति नहीं है, अब स्वयं ही अपने आपमें अपने ही शुद्ध परिणमनके प्रतापसे रही-सही औपाधिक अशुद्धि भी दूर हो जाती है। यह आत्मा जब केवल सिद्धके स्वरूपमें व्यक्त हो गया तो वहाँ व्यवहारीजन क्या कहते हैं—सिद्ध पर्याय उत्पन्न हो गयी, सिद्ध भगवान बन गये। अरे सिद्ध भगवान किसने बनाया? जो था सो अब प्रकट हो गया। बनना तो उसका नाम है कि जो हो नहीं वह हो जाय। यह सब बड़ी सावधानीसे द्रव्य और पर्यायकी दृष्टियोंको बराबर अदल-बदलकर ध्यानमें लेते रहनेसे कथन स्पष्ट होता है।

मुक्त अवस्थामें परिणमन — यह प्रभु द्रव्यरूपसे शाश्वत है और पर्यायरूपसे अगुरु-लघुत्व गुणके षट्स्थान पतित वृद्धि-हानिकी अपेक्षासे इनका निरंतर उच्छेद हो रहा है, इसका अब यह परिणमन किस प्रकारका है? संसारी जीवोंसे तो उपमा कुछ मिलती नहीं, मात्र एक सिद्धपरिणमनको बताना है। इसमें या तो उपमा यही लगेगी कि सिद्धका चमत्कार सिद्ध की तरह है, दूसरा कुछ उपमाके लिए मिलता ही नहीं है, अथवा कुछ-कुछ कहना भी चाहें तो जो शाश्वत सत् पदार्थ धर्म, अधर्म, आकाश, काल हैं इसमें जैसे अगुरुलघुत्व गुणकी वृद्धि हानिसे जो परिणमन जिस पद्धतिसे चलता रहता है उस पद्धतिसे जो परिणमन हो रहा है। अब इसका होना किस प्रकार हो रहा है? निर्विकार, शुद्ध, ज्ञानानन्दस्वभावरूपसे अब सिद्ध का परिणमन हो रहा है, और जो मिथ्यात्व रागादिक विभावपरिणाम चल रहे थे वे तो अब अतीत हो गये ना? तो जो अतीत हो गए हैं अशुद्ध परिणामके रूपसे वे कभी भी न होंगे।

हितमयी स्थिति—भैया! किस अवस्थामें इस जीवका हित है, यह भी साथ ही साथ दृष्टिमें रखते हुए सिद्धस्वरूपपर नजर रखना है। परम निराकुल दशा इस ही स्थितिमें है। एक साल दो सालका भी बालक जरासा हँस दे और कंधेपर या सिरपर हाथ रख दे, बस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इतनी ही चेष्टा वह बालक करता है और यह जो अपनेको उसका मालिक मानता है उसको पूरी उलझनमें फंस जाना पड़ता है, उस बालककी थोड़ीसी ही चेष्टासे समझो अब वह बन्धनमें आ गया। तो बन्धन आपने अपने आप अपने ही विकल्पसे प्रीति-परिणाम बनाकर ही तो किया है। उस सालभरके बालकमें आपको बन्धनमें डालनेकी कला कहाँ है जो बेचारा बालक अभी बोलना भी नहीं जानता। यों ही समझिये प्रत्येक पदार्थ चाहे वह चेष्टावान हो अथवा अचेष्ट हो, ये आपका कोई बन्धन नहीं पैदा करते। आप खुद ही अपने मनका संकल्प-विकल्प बनाकर अन्य पदार्थोंके वश होकर पराधीन हो जाते हैं। तब भी आप पराधीन नहीं हैं, किन्तु कल्पनामें पराधीन हो जाते हैं। और ऐसी पराधीनताकी स्थिति ही अहितरूप है।

परमकल्याण व उसका उपाय—ये सिद्धप्रभु हितकी मूर्ति हैं, कल्याणमय हैं, शिव-स्वरूप हैं, परमानन्दमय हैं, यह अवस्था ही हितरूप है। अब जो उनमें शुद्ध अन्तस्तत्त्व प्रकट हुआ है उस रूपसे वे हैं, अन्य विभावरूपसे वे नहीं हैं। अब उनके अनंतज्ञान है, मतिज्ञानादि का उनके उच्छेद है, ऐसी उत्कृष्ट विकासरूप स्थिति है, उसकी ही हम आप पूजा करने आते हैं। हमें यह भावना आनी चाहिए कि मुझे तो यही स्थिति उपादेय है। इस शुद्ध विकासकी और शुद्ध विकासके कारणभूत चैतन्यस्वभावकी अभिरुचि जगे, यही कल्याणका प्रारम्भिक उपाय है।

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण ॥३८॥

चेतयितृत्वके स्वामित्वका निर्देशन—इस अधिकारमें प्रथम गाथामें यह सूचित किया था कि यह जीव है और चेतयिता है आदिक कुछ विशेषण कहे गये थे, उनके ही आधारपर व्याख्या चल रही है। जीवका वर्णन कर दिया, अब चेतयितृत्वका वर्णन कर रहे हैं। यह जीव चेतने वाला है, ऐसा सुनकर यह प्रश्न होता है कि जीव किसका चेतने वाला है, किसको चेतता है? उसके ही समाधानमें यह गाथा आयी है। कोई जीव तो कर्मोंके फलको ही प्रधा-नतासे चेतता है। कोई जीव ऐसे होते हैं कि कर्मसहित कर्मफलको चेतते रहते हैं। क्रिया भी करते हैं और व्यक्तरूपसे सुख दुःखका अनुभव भी होता है, और कोई जीव ऐसे होते हैं कि वे मात्र ज्ञानका ही चेतन करते हैं।

कर्मफलचेतयितृत्वके अधिकारी—ऐसे भी कुछ जीव हैं जो प्रधानतासे कर्मफल चेतन करते हैं। वे जीव हैं स्थावर। स्थावर जीवोंके अंगोपाङ्ग न होनेसे उनके देहकी क्रियाएँ नहीं होतीं। और इस दृष्टिसे वे कुछ कर्म कर नहीं पाते। कर्मका अर्थ यहाँ क्रिया है, और उस क्रियाके बिना कर्मके फलको चेतते रहते हैं। चूंकि उनमें अङ्गोपाङ्ग न होनेके कारण कर्मको नहीं चेतते, अतः जो कुछ वे चेतते हैं सुख-दुःख, वे अव्यक्त रूपसे चेतते हैं। लोगोंको भी पता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं होता। और वे भी त्रस जीवोंकी तरह कुछ व्यक्त विकल्प करते हुए न चेतते होंगे। उनका विकल्प भी ऐसा अव्यक्त उनके लिए तो उनपर गुजरी हुई विकल्प प्रवृत्ति चलती है। स्थावर जीवोंका कितना निम्नतम स्थान है ? जीवराशिमें। ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और उन वनस्पतियोंमें भी निगोद ये कितने निम्न स्थान हैं, जिनका कुछ व्यवहार ही नहीं। अनेक लोग तो इनको जीव भी नहीं मानते। ये जीव अत्यन्त मोहसे मलीमस हैं, इतने मोहमुग्ध हैं कि वे अपने आपमें भी अपनी कोई व्यवस्था नहीं बना पाते। वे मस्त बेहोश पड़े हुए हैं।

स्थावर राशिसे निर्गमनकी दुर्लभता—हम आपने स्थावरराशिमें अनन्तकाल व्यतीत किया है। सुयोगवश आज मनुष्य हुए, उत्तम कुल, उत्तम धर्म, उत्तम समागम सब कुछ पाया, लेकिन वही चाल ढाल अब भी बसाये हुए हैं जो बहुत पूर्व कालमें बसाये हुए थे। कोई भी परिवर्तन नहीं दिखता। उल्टा कुछ और विकारोंमें ही बढ़ गये हैं। फल क्या होगा कि पुनः ऐसे स्थावर जीवोंमें उत्पन्न होनेकी नौबत आयगी कि फिर वहाँ कुछ भी पुरुषार्थ न किया जा सकेगा। वहाँसे जब जैसे निकलना हो निकलेंगे।

स्थावरोंकी परिस्थिति—ये स्थावर जीव अत्यन्त अधिक मोहसे मलीमस हैं। ज्ञानावरणका उनके तीव्र उदय है उससे उनका प्रभाव मुद्रित हो गया है। कैसे यह जीव अपने परिणामके कारण निमित्तनैमित्तिक योगसे कैसी कैसी स्थितियोंको पा लेता है ? अब पूछा जाय कि बतलावो तुम मरकर पेड बनना चाहते हो ? तो शायद कोई भी छोटासे भी छोटा पुरुष यह न चाहेगा कि हम पेड़ बन जायें। किन्तु करनीमें अन्तर न डालें, वे ही मोहकी बातें बनी रहें तो पेड़ आदि बनना ही पड़ेगा। ये स्थावर जीव जिनकी ज्ञानावरणसे बुद्धि शक्ति अत्यन्त मुद्रित हो गयी है लेकिन है तो आखिर चेतन। वह चेतक स्वभाव जायगा कहाँ ? यदि इतनी खराब हालत हुई है तो जरा और खराब हालत हो जाती, चेतना भी नष्ट हो जाती, तब भी भला था हम अचेतन रहते तो क्लेश तो न भोगने पड़ते, मगर यह होता कैसे है ? कितनी भी निम्नतम स्थिति हो जायगी, पर इस चेतनका चेतकस्वभाव जायगा कहाँ ? इस चेतकस्वभावके कारण कुछ न कुछ चेतनेका भाव करेगा ही। क्या करेगा ? कार्यकारणकी सामर्थ्य तो विनष्ट-सी हो गयी। वीर्यान्तरायकर्मका वहाँ बड़ा प्राबल्य है जिससे इसकी शक्ति पूर्ण रुद्ध-सी हो गयी है। अब ये स्थावर जीव शुभाशुभ कर्मफलको भोगने का काम करते रहते हैं।

स्थावरोंमें आत्मशक्तिका अवगुण्ठन—देखो मनुष्योंमें, पशुवोंमें, पक्षियोंमें कुछ शक्ति का अन्दाज होता है। है शक्ति। मन, वचन और कायके रूपसे उनमें कुछ इस प्रकारका काम होता है कि जिससे शक्ति विदित होती है और ये दो इन्द्रिय तक भी इनमें स्थावरोंकी अपेक्षा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शक्ति विशेष नजर आती है। ये केचुवा, लट आदि दो इन्द्रियके जीव चलते हैं, फिरते हैं, मुड़ भी जाते हैं, गोल भी हो जाते हैं, चलते हुए लौट आते हैं। ये स्थावर क्या करें? जहाँ पड़े हैं, पड़े हैं; जहाँ खड़े हैं, खड़े हैं। यह शक्तिकी ओरसे बात चल रही है। कोई यह न बीचमें तर्क उठाये कि देखो पेड़ गिर जाता है तो दसों आदमियोंकी हत्या कर डालता है। अरे वह पेड़ क्रिया करके नहीं गिरा, यों तो कोई भी काठ, पत्थर अजीब पदार्थ खड़ा हो और वह गिर पड़े तो उससे बहुतसे जीव मर जाते हैं। तो उनका यह गिरना उनकी क्रियामें शामिल नहीं है। वह उनकी उस प्रकारकी प्रकृति है। जहाँ वीर्यान्तराय कर्म अधिक उदित है वहाँ कार्य-कारणका सामर्थ्य दब गया है। अब वह चूंकि चेतकस्वभाव वाला तो है ही तो अब किसे चेतेगा? तो वह सुख दुःखरूप कर्मफलको ही प्रधानतासे चेतता है।

स्थावरोंमें कर्मफलचेतनाकी प्रसिद्धि—भैया! स्थावरोंमें भी क्रियाका सर्वथा अभाव नहीं होता है, ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसमें क्रिया न होती हो। परिणमन ही क्रिया है। एक परिणमन क्रियाके बिना सुख दुःखका चेतना भी कैसे बनेगा, किन्तु यहाँ कर्मसे मतलब व्यक्त क्रियावोंसे है। ये क्रियासे रहित होकर आसक्तिके कारण प्रधानरूपसे कर्मफलको ही चेतते हैं। इन स्थावरोंमें चेतनेका स्वभाव है। चेतन पृथ्वी जो ऊपर धूलरूपमें है यह तो चेतन नहीं हो सकती, किन्तु जो खोदते हैं, खानसे मिट्टी निकलती है, मिट्टी, मुरमुर, जमीन कंकड़, पत्थर, भीतरमें जो कुछ पड़ा है वह जीव है। जल जो बहता रहता है वह जीव है। बहने वाला, बरषने वाला, रुकने वाला ये सब जलजीव हैं। अग्नि जीव है, हवा जीव है, वनस्पति जीव है। वनस्पतिका जीवपना उपेक्षाकृत उन चारोंके स्पष्ट ज्ञात होता है। ये बढ़ते हैं, हरे होते हैं, कभी कुम्भलाते हैं, कभी विकसित होते हैं। इनमें प्रकृत्या कुछ ग्रहण करने वाली, कुछ फेंकने वाली आयु पायी जाती है। इसमें जीवपनेका चेतनेका कुछ विशेष बोध हो जाता है। देखो इसमें चेतना कैसी मूर्छित है कि इसमें चेतन है, यह भी अवगम करना कठिन हो गया है। ऐसे ये स्थावर जीव कर्मफलको ही प्रधानतासे चेतते हैं।

त्रिविध चेतनाओंके विविध विवरणकी पद्धति—इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा है कि चेतना तीन प्रकारकी होती है—कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। इन तीनों का वर्णन समयसारमें जिस प्रकार किया गया है वह एक पूर्व अध्यात्मदृष्टिसे वर्णन है। यह भी कुन्दकुन्दाचार्यदेवकृत ग्रन्थ है, फिर भी एक दृष्टि और प्रकरण कुछ अन्य-अन्य होने से वही वर्णन अपनी विशिष्ट विशिष्ट पद्धतिको रखने लगता है। इस ग्रन्थमें सिद्धान्तस्थापनकी भी दृष्टि अपनाई गई है।

त्रिविध चेतनाओंका अध्यात्मविवरण व कर्मचेतना—समयसारमें इन तीन चेतनावों का वर्णन इस प्रकार है। कर्म चेतनाज्ञानके सिवाय अन्य परिणमनोंमें इसे मैं करता हूं, इस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकारकी चेतना कर्मचेतना कहलाती है । कोई पुरुष अपनेको ज्ञानरूप ही चेते, मैं तो ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानप्रकाशरूप हूं, जिसका काम केवल जानन है, जाननमें जानन होता है, विकारोंका वहाँ स्थान नहीं । रागद्वेष विभाव, परके आकर्षण परकी दृष्टियाँ ये सब मुझमें कहाँ पड़ी हैं ? मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूं । केवल जाननरूपसे ही मैं चेतता हूं, केवल जाननरूपको ही कर रहा हूं, केवल इस जाननरूप ही में परिणम रहा हूं, अन्य मेरा कुछ काम ही नहीं । सर्वत्र मैं जानता ही जानता रहता हूं, इस प्रकारका चेतन हो तो वह ज्ञानचेतना है, किन्तु ऐसा चेतन न बनकर मैं अमुकको सुख देता हूं, अमुकको दुःखी करता हूं, मकान बनाता हूं, धन कमाता हूं, दूकान करता हूं, इतना आरम्भ कर लिया है । ओह करने-करनेका ही बोझ लादना, यही तो कर्मचेतना है ।

कर्मफलचेतनाका अध्यात्मविवरण—कर्मफलचेतना—ज्ञानके सिवाय अन्य परिणमनों में इसे मैं भोगता हूं, ऐसा चेतन करना कर्मफलचेतना है । जब कि ज्ञानी जीव अपने आपमें अपने आपको इस प्रकार चेतता है कि जो मेरा जाननस्वरूप है उस जाननको ही भोगता हूं । भोगना और परिणमना जुदी-जुदी बातें नहीं हैं । करना और परिणमना जुदी-जुदी बातें नहीं हैं, और इस दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थमें चाहे वह चेतन हो अथवा अचेतन हो, सभी करते हैं, सभी भोगते हैं । किसे ? अपनी अवस्थाको । सभी पदार्थ अपनी अवस्थाको करते हैं और अपनी अवस्थाको अनुभवते हैं, किन्तु अचेतन पदार्थोंमें चेतन गुण नहीं है इस कारण उनमें अनुभवने की बात कहीं देरमें बैठती है । अरे अनुभवन उनका उनके ही रूप है, अचेतन रूपसे ही है । हाँ यह आत्मा चेतन है, यह शीघ्र समझमें आता है, क्योंकि यह चेतनके रूपसे अनुभवता है ना ? वे अपनी सत्ता परिणमन रूपसे अनुभवते हैं, ज्ञानके सिवाय अन्य किसीको मैं अनुभवता नहीं । मैं जब कभी भी जो कुछ भी भोगता हूं एक अपने जाननको भोगता हूं । यह जीव जब किसी विषयको भी भोग रहा है तब भी वह विषयभूत पुद्गलको नहीं भोग रहा है, किन्तु विषयभूत पुद्गलके भोगोंमें, उनके सम्पर्कमें जो कल्पनाएँ बनायीं, जो ज्ञान बनाया उस ज्ञान को ही भोग रहा है, अशुद्ध वृत्तिको भोग रहा है । तो एक दृष्टिसे अज्ञानी भी जब अन्यको नहीं भोग पाते तो ज्ञानी यहाँ परभावको भी भोगनेकी बात अपने चित्तमें न लगाकर केवल शुद्ध ज्ञान वृत्तिको भोगनेकी वृत्ति कर रहा है । ज्ञानी पुरुष ज्ञानको ही भोगता हुआ इस प्रकार का प्रत्यय रखता है । अज्ञानी जन परतत्त्वके भोगनेका प्रत्यय रखते हैं, यही कर्मफलचेतना है ।

ज्ञानचेतना व त्रिविध चेतनाओंका प्रकृत उपसंहार—कोई-कोई जीव इतने सामर्थ्यहीन होते हैं कि वे भोगनेका विकल्प भी अपनेमें स्पष्ट नहीं पाते हैं और भोगते जाते हैं । वे हैं स्थावर जीव । समयसारकी उस पद्धतिसे इन तीन चेतनावोंका विभाग कई प्रकारसे होता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। ज्ञानचेतना किसके है? ज्ञानचेतना अप्रमत्त गुणस्थानसे है। कर्मचेतना और कर्मफल-चेतना पहिले गुणस्थानसे छठे गुणस्थान तक है। फिर दूसरी दृष्टि जगती है कि जो श्रद्धामें और प्रतीतिमें है, वास्तविकता तो उसकी है, मूल्यांकन तो वहाँसे है। लो अब है ज्ञानचेतना किसके? सम्यग्दृष्टिके, और कर्मचेतना कर्मफलचेतना, जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं उनके। इस प्रकरणमें जिस प्रकार भूमिका आकर वर्णन किया है उसमें यह बताया है कि कर्मफलचेतना है एकेन्द्रिय जीवोंके, और कर्मचेतना किसके है? दो इन्द्रिय जीवोंसे लेकर जब तक केवलज्ञान न हो तब तक। जब यह कर्म और कर्मफलको चेतता रहता है, और इस करणानुयोगकी दृष्टिसे ऐसा कुछ साफ जंचता भी है कि यह कर्म अपने उदयसे तब तक कुछ न कुछ कर रहे हैं, केवलज्ञान होनेके बाद फिर न कोई उपद्रव है और न किसी प्रकारकी बाधा है। वह प्रभु है और वह अब स्पष्टरूपसे ज्ञानको ही चेतता रहता है। ये स्थावर जीव कर्मफलका चेतन करते हैं।

कर्मचेतनाके प्रधान अधिकारी—त्रस जीव ये भी यद्यपि मोहसे मलीमस हैं और इनके ज्ञानावरणसे बुद्धि सामर्थ्य भी रुकी हुई है, फिर भी कुछ वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम पाया है जिससे कार्य कारण सामर्थ्य प्रकट होता है। वह किसी बातके कारण बन जायें, किसीके कार्य बन जायें, कुछ पहिचान कर सकें ऐसे कर्मकी सामर्थ्य प्रकट होती है। वे जीव कर्मफल चेतनासे मुक्त नहीं हैं, वह तो चल ही रही हैं। सुख दु:खरूप जो कर्मफल है उसका अनुभवन उनमें चल रहा है, पर साथ ही वे कर्मोंको प्रधानरूपसे चेत रहे हैं। त्रस जीवोंमें कर्मचेतनाकी प्रधानता बतायी है, क्योंकि उनमें वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेसे कार्यकारणमें सामर्थ्य प्रकट हुई है। चेतक स्वभावके कारण जो भी उनमें सामर्थ्य प्रकट हुई है उसके अनु-रूप ईहापूर्वक, विचारपूर्वक संज्ञापूर्वक, इष्ट अनिष्ट विकल्परूप कार्योंको करते हैं।

ज्ञानचेतनाके स्वामी—तृतीय प्रकारके जीव जो ज्ञानचेतनासे ज्ञानको ही चेतते रहते हैं वे हैं केवलज्ञानी जीव। जिन्होंने समस्त मोह कलंकको धो डाला है और ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदिक समस्त कर्मोंका समुच्छेद कर दिया है। इस ज्ञान चेतनामें भी प्रधानता सिद्ध जीवोंकी रक्खी है। अब आत्माकी जितनी भी शक्तियाँ हैं समस्त शक्तियाँ अत्यन्त विकसित हो गयी हैं। वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम हो चुका है, उनके अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है। इस कथनमें ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म इनके क्षयपर प्रधानतया दृष्टि दी है। इससे अरहंत भगवानके भी ज्ञानचेतना सिद्धकी तरह मानी गयी है। अब कर्मफल समस्त उनके समाप्त हो गये, कर्म भी समाप्त हो गये, अत्यन्त कृतकृत्य हो गये।

सकलपरमात्माकी निर्वाञ्छ क्रिया—सकलपरमात्माकी क्रिया जब तक वे अरहंत भगवान हैं, शरीरसहित हैं, जो हो रही है वह कैसी क्रिया हो रही है? विचार नहीं, विचारों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का चलना नहीं, इच्छा नहीं, क्या है, अब तो उनका शरीर बड़ा सुहावना, स्वच्छ, निर्मल है, एक खिलौनेका सा पुतला है। जैसे ये मेघ क्या विचार कर चलते हैं कि मैं इस देशमें जाऊँ और वहाँ पानी बरषाऊँ ? अरे जहाँकी जनताका भाग्य है वह भी एक कारण है और यहाँ वायुका सम्पर्क संयोग है वह भी एक कारण है। बादल पहुंचते हैं और बरसते हैं। ऐसे ही यह प्रभुका शरीर, यह परमात्माका परमौदारिक शरीर क्या यह जानकर चलता है कि मैं किस ओर जाऊँ, मैं म्लेच्छ देशमें ही जाऊँ, वहाँके लोग बड़े धर्मात्मा हैं। वहाँ पहुंचेंगे, क्या उनकी ऐसी इच्छा है ? नहीं है। फिर भी जहाँके जीवोंका प्रबल भाग्य है उस ओर उनका विहार होता है। जीवोंका प्रबल भाग्य है विशेष कारण, और उनमें अघातिया कर्म तो रह ही रहे हैं, उनका उदय चलता है, बस ऐसे ही कारण कलाप मिलकर उस विषयके कारण बन जाते हैं। उनमें इच्छा नहीं, रागद्वेष नहीं, फिर भी यह गमन हो रहा है।

कृतकृत्यता व उपादेयता—केवलज्ञानी जीव अत्यन्त कृतकृत्य हैं, उन्हें बाहरमें कहीं करने योग्य कुछ नहीं है। अन्तरङ्गमें करने योग्य है ज्ञान, उस ज्ञानको ही वे करते रहते हैं। उस ही ज्ञानरूप वे परिणमते रहते हैं और ज्ञानरूपको ही अनुभवते रहते हैं। वे अत्यन्त कृत-कृत्य हैं। वे अपने से अभिन्न स्वाभाविक आत्मीय सुखको और ज्ञानको ही चेतते हैं। ये प्रभु ज्ञानचेतना संयुक्त है। इस प्रकार ये जीव कोई तो ज्ञानचेतनाको ही चेतते हैं और कोई कर्म कर्मफलरूपसे चेतते हैं और कोई केवल कर्मफलको ही चेतते हैं। यह भेद पड़ गया है। एक स्वरूप, एक स्वभाव, एक लक्षणके भी ठोकर इन जीवोंमें उपाधिवशसे ये नाना भेद पड़ गये हैं। इस प्रकरणसे हमें यह शिक्षा लेना है कि हम इन बाहरी भेद परिस्थितियोंको न चेतकर अपने अन्तः शाश्वत विराजमान इस ज्ञानस्वभावको ही चेतें। इसका आलम्बन ही एक बहुत बड़ा सहारा है। यह सारी दुनिया, यह मोहक जगत सारा धोखा है, इस जीवकी बरबादीका कारण है। मैं मैं, मेरा मेरा—इन ही विकल्पोंमें रहकर अपने आपका घात करते चले जा रहे हैं। अब सुयोग पाया, अच्छी बुद्धि पायी, सामर्थ्य मिला तो इसका सदुपयोग करें। इनको व्यर्थ न गमां दें और अपने ज्ञानस्वभावको बारबार चेतते रहनेका यत्न करें।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥३९॥

त्रिविध चेतनाओंकी प्रभुता—पूर्वगाथामें यह बताया था कि चेतना तीन प्रकारकी होती है—कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना। यह जीव चेतकस्वभावी होनेसे इन चेतनावोंमें से किसी न किसीको चेतता ही रहता है। अब जीव किस चेतनाको चेतता है, इसका वर्णन इस गाथामें किया जा रहा है। स्थावरकाय जितने हैं वे सभी कर्मफलको चेतते हैं। चेतना कहो, अनुभव कहो, प्राप्त करना, वेदन करना—ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

केवल कर्मफल चेतते हैं, इसका अर्थ है कि स्थावर जीव अव्यक्त सुख दुःखका अनुभवनरूप शुभ अशुभ कर्मफलको चेतते हैं। और त्रस कर्मचेतना सहित कर्मफल चेतनाको चेतते हैं, अर्थात् त्रस जीवोंमें दोनों ही चेतनाओंकी करीब-करीब प्रधानता है और उनमें भी कर्मचेतना की प्रधानता है। इन्हें कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे चेतनेका कार्य क्यों करना पड़ा ? उन्होंने निर्विकल्प परम आनन्दस्वभाव वाले आत्मतत्त्वका अनुभवन नहीं किया। जो ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभव नहीं करते वे रागद्वेषसे मलीमस बनकर कुछ न कुछ परभावोंमें परतत्त्वोंमें इसे मैं करता हूं, इसे मैं भोगता हूँ—इस प्रकारका अनुभवन किया करते हैं। ज्ञान चेननासे कौनसा जीव अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता है ? जिनके अब द्रव्य प्राण ही नहीं रहे, प्राणित्वसे अतिक्रान्त हो गये वे प्रभु ज्ञानचेतनासे चेतते हैं।

त्रिविध चेतनाओंके अधिकारियोंका विवरण—प्राण दस प्रकारके कहे गये हैं—५ इन्द्रिय, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु। जिसमें केवल चार ही प्राण पाये जाते हैं—स्पर्शनइन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु वे स्थावर जीव हैं। स्थावर जीवोंमें विग्रहगतिमें अपर्याप्तमें तो ३ प्राण होते हैं, श्वासोच्छ्वास नहीं होता और पर्याप्त अवस्थामें चार प्राण होते हैं। इन चार प्राणों तकके धारी कर्मफलचेतना तकको ही भोगते हैं। और चार प्राणसे अधिकके व दसों प्राणोंके धारी कर्मचेतना, कर्मफलचेतनाको भोगते हैं और जो इन दसों प्रकारके प्राणोंसे अतिक्रान्त हो गये हैं वे जीव सिद्ध हैं, वे केवल ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं। उन्हें केवल शुद्ध निज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी अनुभूति हुई है, इसकी भावना जो करता है उससे ऐसे शुद्ध आत्माकी अनुभूति होती है और परम आनन्दमय एक सुधारसका स्वाद उन्हें प्राप्त होता है। ये सिद्ध जीव केवल अपने ज्ञानको अनुभवते हैं।

अनुभाव्य तत्त्व—भैया ! कोई भी जीव अपनेको अनुभवे बिना रहता नहीं है, कोई अपनेको कुछ मानता है, कोई कुछ मानता है, पर सबको अपने बारेमें कुछ न कुछ प्रतीति बनी हुई है। अब विवेक यहाँ करना है कि हम अपने आपकी क्या प्रतीति करें जिससे आनन्द प्राप्त हो और कैसी प्रतीति हम करते हैं जिससे क्लेशोंकी प्राप्ति होती है, अपनेको शुद्ध एक ज्ञानप्रकाशमात्र विकाररहित अनुभव करो। उपाधिका निमित्त पाकर हममें विकार हो जाते हैं। कैसे हो जाते हैं ? क्या बतावें ? निमित्तनैमित्तिक योग है। आगका निमित्त पाकर पानी गर्म हो जाता है। कैसे गर्म हुआ, कहाँसे हुआ ? क्या बतावें ? साक्षात् अनुभव कर लो। ठंडा पानी रक्खो, थोड़ी देर बाद देख लो गर्म। अब कैसे वहाँ गर्म रूप परिणमन हुआ, यह उसकी बात है। मुझमें रागद्वेष विकार कैसे आ गए ? क्या बताएँ, हमारे स्वरूपमें तो विकार है नहीं, पर अवस्थामें विकार चल ही रहा है। हम अपने स्वरूपकी खबर नहीं रखते, सो यह उपयोग हमारे अपने ज्ञानस्वरूपके सिवाय अन्यत्र चल रहा है, दौड़ रहा है, हमारी परमुखी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दृष्टि हो रही है. हम स्वमुखी दृष्टिमें नहीं हैं, तब यह विकारोंकी चाल चला करती है। अपने में निर्विकार स्वभावका आश्रय करें तो अवस्थामें भी निर्विकारता प्रकट होती है। इस प्रकरण में जो दूसरा अन्तराधिकार चेतयिताका या उसके सम्बंधमें दो गाथावोंमें वर्णन किया है। अब तीसरा अंतराधिकार उपयोगका है, उस उपयोगका वर्णन इस गाथामें अब किया जा रहा है।

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥४०॥

उपयोगका वर्णन—आत्माके चैतन्यस्वभावका अनुविधान करने वाले अर्थात् अन्वय रूपसे परिणमने वाले जो व्यक्तरूप हैं उनका नाम उपयोग है ज्ञान। और दर्शनशक्तिका उपयोग क्या है? जैसे लोकव्यवहारमें भी कहते हैं—अमुक बातका उपयोग क्या है, अमुक चीजका उपयोग क्या है? चैतन्यशक्तिका उपयोग है जानन और देखन। हम कानोंसे जानते हैं और आँखोंसे जानते हैं। सभी इन्द्रियोंसे हम जानते हैं। ये निमित्त हैं, जाननहार आत्मा इनसे जुदा है, पर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है।

हम आँखोंसे देखा नहीं करते, लेकिन ऐसा बोलने लगे हैं, क्योंकि जरा स्पष्ट जानन हो रहा है ना, इसलिए आँखोंसे देखना कह देते हैं, और यह शब्द भी प्रचलित हो गया है। यदि यह बताया जाय कि भाई आँखोंसे हम जाना करते हैं, देखा नहीं करते। आँखोंसे कभी देख ही नहीं सकते तो गलत-सा लगता है कि क्या कहा जा रहा है? हम आँखोंसे ही तो सब कुछ देख रहे हैं। जानना होता है सविकल्प और देखना होता है निर्विकल्प। आँखोंसे आपने क्या देखा? उसका आप आकार बता दें, रंग बता दें, तो इतने विकल्पोंका जहाँ प्रतिभास होता है वह तो जानना है। देखनेमें यह नहीं कह सकते कि मैंने किसको देखा? देखना होता है निर्विकल्प, जानना होता है सविकल्प।

इन्द्रियज ज्ञानोंसे पहले दर्शनकी उद्भूति—भैया! आँखोंसे जाननेसे पहिले देखना होता है, और ऐसा देखना सभी इन्द्रियोंके जाननसे पहिले होता है। कानोंसे कुछ जाना, उससे पहिले देखना होता है। आँखोंसे देखनेकी बात नहीं कह रहे हैं, कानोंके जाननेसे भी पहिले दर्शन हुआ, सभी इन्द्रियोंसे जाननेसे पहिले दर्शन हुआ। हमारा ज्ञान कमजोर है और उस ज्ञानका काम करनेके लिए दर्शनसे बल लेते हैं। ज्ञान बाह्य पदार्थोंको जान रहा है। तो एक पदार्थको जाननेके बाद उसका जानना छोड़कर जब हम किसी दूसरे पदार्थको जाननेके लिए उद्यम करते हैं तो इस बीचमें हमें अपने अन्तरङ्गमें दर्शन होते हैं। और उस दर्शनसे बल ग्रहण करके हम फिर दूसरी चीजको जाननेमें सफल हो जाते हैं। तब ज्ञान हुआ सब जगह यों बाहर, और दर्शन हुआ अपने आपके अन्तरङ्गमें। अपने भीतर झुककर प्रतिभासका बल लेकर फिर बाहरमें हम जाना करते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दृष्टान्तपूर्वक मतिज्ञान दर्शनपूर्वत्वका समर्थन—जैसे कोई कूदने वाला लड़का, जम्पका जैसे खेल होता है—एक रस्सी तीन चार फिट ऊँची दो बांसोंमें बाँध दी जाती है, अब जब वह लड़का उस रस्सीको लांघनेके लिए तैयार होता है तो वह जितना जमीनकी ओर झुकेगा उतनी ही वह ऊँची कूद कर सकता हैं। और इसी काममें देख लेना कि जिस जगहसे उचक-कर उसने रस्सी कूदी है उस जगह गड्ढासा बन जाता है। तो उसमें ऊँची कूद करनेकी शक्ति तब बढ़ी जब कि वह नीचेको झुका। ऐसे ही जब हम अपनी ओर झुक लेते हैं तब हम बाहर की चीजोंको जाननेमें सफल होते हैं। ऐसा काम हम रात-दिन कर रहे हैं। और घंटे भरमें हजारों बार काम कर डालते हैं। क्या? कि अपनी ओर झुकना, फिर बाहरी चीजोंको जानना। लेकिन इसका भान नहीं कर पाते कि लो हम झुक गए अपनी ओर। इतना भान कर ले तो उसे सम्यक्त्व हो जाय। काम बराबर कर रहे हैं, पर भान नहीं कर पाते। हम जो हैं सो ही तो हैं। हम भूल भटक गए, पर हम तो वही हैं। इस जीवने अपनी भूलसे उप-योगमें रमकर उपयोगमें ही हित मानकर अपनी बरबादी कर डाली है, निर्विकार हुए हैं तो निर्विकार स्वरूपका आदर भी तो करें। आदर तो किया जा रहा है विकारोंका। वहाँ निर्वि-कारता अर्थात् आत्मविकास कैसे प्रकट हो?

हमारा शरण—हमारा सहाय हम ही में बसा हुआ सहज ज्ञानस्वभावका आलम्बन है। बाहरमें सब जगह धोखा है। पराधीनता, दुःखरूपता, भटकन सभी विपत्तियाँ बाहरी हैं। जो हम चाहते हैं, जो हमें अत्यन्त अभीष्ट हैं, जिनमें हमारा पूर्णतया कल्याण है, पूर्ण निरा-कुलता है वे सब बातें मेरेमें बसी हुई हैं। किसी की पगड़ीमें लाल बंधा है, और उसे भूल गया तो वह घास बेचकर लकड़ी बेच कर अपना जीवन गुजारता है। जिसे अपने घरमें गड़ी हुई निधिका पता नहीं है वह गरीबीके दिन गुजारता है, ऐसे ही अपने आपमें जो परमस्वभाव है, चित्स्वभाव ज्ञानमात्र सर्वोत्कृष्ट वैभव है उसका पता नहीं है तो बाहरमें यत्र तत्र भटक भटककर अपने आपको बरबाद किए जा रहे हैं। अपनी सुध लेना, अपना उपयोग करना यह ही मात्र एक अपना कर्तव्य है।

सविकल्प निर्विकल्प उपयोगका उपसंहार—उपयोग दो प्रकारके होते हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ये ज्ञान और दर्शन सदाकाल जीवसे अभिन्न हैं। जो विशेषको ग्रहण करे वह ज्ञान है और जो सामान्यको ग्रहण करे वह दर्शन है। ये जुदी चीज नहीं हैं। जीव और उपयोग ये एक ही अस्तित्वमें हैं, भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं हैं। अब इन ज्ञानोपयोग और दर्शनो-पयोगमें से ज्ञानोपयोगके विशेषको बतला रहे हैं।

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदि सुदविभंगाणि य तिण्णिवि णाणेहिं संजुत्ते ॥४१॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञानोपयोगके भेद—ज्ञान ५ प्रकारके होते हैं—आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इन ५ प्रकारके ज्ञानोंमें से आदिके तीन ज्ञान मिथ्यात्वके सम्पर्कसे विपरीत भी होते हैं—अर्थात् कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान। यों ज्ञानमार्गणा ८ होते हैं। जैसे अन्य मार्गणावोंमें एक भेदरहितका रहता है ऐसा ज्ञानमें नहीं है। जैसे अन्य मार्गणावोंमें गतिरहित है ऐसे ही ज्ञानमार्गणामें ज्ञानरहित है क्या ? नहीं है। ज्ञानरहित कोई जीव हो नहीं होता है। यों ८ प्रकारके ज्ञानोपयोग कहे हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञान—ज्ञानके इन भेदोंमें प्रथम नाम है आभिनिबोधिक ज्ञान। जिसे लोग मतिज्ञान कह देते हैं। इसका बहुत स्पष्ट और सही नाम है आभिनिबोधिक ज्ञान। इस आभिनिबोधिक ज्ञानके अनेक भेद हैं। मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान। यदि इस प्रथम ज्ञानका नाम मतिज्ञान रखते हैं तो यों कहना पड़ेगा कि इस मतिज्ञानके मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये उसके प्रभेद हैं, अनर्थान्तर हैं। आभिनिबोधिकका अर्थ है अभिमुख और नियत पदार्थको जाने सो आभिनिबोधिक है। शुरूमें जो दो उपसर्ग लगे हैं अभि और नि, उसका अर्थ है अभिमुख और नियत अर्थको जाने सो आभिनिबोधिक है। यह लक्षण मति, स्मृति, तर्क अनुमान, चिन्ता इन सबमें घटित हो जाता है। मतिज्ञान तो नाम है सांव्यावहारिक प्रत्यक्षका। ऐसे स्पष्ट वर्तमानके बोधको मतिज्ञान कहते हैं जो प्रत्यक्षके रूप में प्रसिद्ध है। वाह हमने प्रत्यक्ष सुना, हमने प्रत्यक्ष देखा, हमने खाकर प्रत्यक्ष जान लिया, पर इन्द्रियोंसे जाननेको कहीं प्रत्यक्ष भी कहा करते हैं। प्रत्यक्ष नाम तो है इन्द्रियोंकी सहायताके बिना, केवल आत्माके ही सहारे ज्ञान करनेका।

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानका सीधा अर्थ तो सुना हुआ है, पर सुना हुआ तो आभिनिबोधक ज्ञान है। आभिनिबोधक ज्ञानसे जानते हुए पदार्थमें कुछ और विशेष जानना सो श्रुतज्ञान है। यहाँ श्रुत उपलक्षण है, दृष्ट स्पृष्ट आदि सब मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। यह अपने ही ज्ञान करनेकी प्रणालीकी बातचीत चल रही है। हमने आँखोंसे जाना, और जिस समय हमने यह सोचा कि यह नीला है, बस यह श्रुतज्ञान हो गया। तो मतिज्ञान कहाँ तक रहा ? इसे हम नहीं बता सकते, क्योंकि मतिज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है। इन ५ ज्ञानोंमें से मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये चार ज्ञान निर्विकल्प हैं और श्रुतज्ञान सविकल्प है। ग्रन्थमें आता है कि साधु महाराजने अवधिज्ञानसे जानकर बताया, पर अवधिज्ञानसे जानना तो होता है, बतानेका काम नहीं हो सकता। जैसे मतिज्ञानसे जानकर फिर श्रुतज्ञानसे व्यवस्थायें बताते हैं यह नीला है, यह खट्टा है, ऐसे ही अवधिज्ञानसे जानकर फिर श्रुतज्ञानसे व्यवस्था बनायी जाती है।

ज्ञानस्वरूपकी भावना—हम यों इन्द्रियके सहारे वर्तमानमें ज्ञान किया करते हैं, किन्तु

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वभाव ऐसा नहीं है। मैं केवलज्ञान पिंड हूं। जैसे मिश्रीका डला सर्वत्र मीठे रससे भरा हुआ है आगे, पीछे, भीतर, ऐसे ही मेरा आत्मा सर्वत्र ज्ञानरससे ही भरा हुआ है। इसमें अन्तर किसी प्रदेशमें भी नहीं है। अपने आपको मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसे ज्ञानस्वरूप की ही बारबार भावना करें, इसमें ही कल्याण है। जहाँ यह प्रतीति लिए बैठे हैं कि मैं अमुक प्रसाद, अमुक चंद, अमुक लाल हूं, इतने बच्चोंका पिता हूं, मैं अमुक व्यापारी हूं, अमुक काम करने वाला हूं, ऐसी प्रतीतियां तो केवल क्लेश ही पैदा करने वाली हैं। ये जब होती हैं, इन्हें जानो, पर प्रतीति मूलमें यह रखिये कि मैं तो सबसे न्यारा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूं। ऐसी ही प्रतीति हमारी शांतिके मोक्षके मार्गमें प्रधान शरण है, अन्य कुछ हमारे लिए शरण नहीं है। यों यथार्थ जानकर अपनेको अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर ही उन्मुख कीजिए।

अखण्डज्ञानात्मकता—यह आत्मा अनंत सर्व आत्मप्रदेशोंमें व्यापक विशुद्ध ज्ञान सामान्यात्मक है, अर्थात् अपने प्रदेशोंमें सर्वमें व्यापने वाला विशुद्ध ज्ञानस्वभावरूप है। यद्यपि जीवका विस्तार प्रदेशकी अपेक्षा असंख्यात प्रदेशोंमें है। जैसे मनुष्य शरीर पाया तो जितना मनुष्य शरीरका विस्तार है उतनेमें इस जीवका विस्तार है। किन्तु इतने बड़े विस्तारमें ज्ञान सर्वत्र वही का वही एक है। जिस एक प्रदेशमें जो ज्ञानस्वभाव और ज्ञानपरिणति है वही स्वभाव वही परिणति अन्य सब प्रदेशोंमें है। यहाँ सदृशताकी भी बात नहीं है कि जैसा ज्ञान पहिले प्रदेशमें है वैसा ही ज्ञान अन्य प्रदेशमें है, किन्तु वही ज्ञान अन्य प्रदेशमें है। यह आत्मा ज्ञानपुंज है, वह ज्ञान अखण्ड है, तदात्मक यह आत्मा उतने विस्तारको लिए हुए है जितने विस्तारसे आधार रूपसे ज्ञानपुँजको लिए रहा है।

ज्ञानका आवरण—वह आत्मा अनादिकालसे ज्ञानावरण कर्मोंसे ढका हुआ है और इस आवरणके कारण आत्माकी महती ज्ञानशक्ति अवकुन्ठित है। कहीं जैसे मेघसे सूर्य ढक गया है इस तरह केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञान ढक गया है, ऐसा नहीं है। वहाँ तो सूर्य पूरा का पूरा व्यक्त मौजूद है। और उस व्यक्त सूर्यपर यह मेघपटल पड़ा हुआ है। ऐसा यहाँ नहीं है कि केवलज्ञान व्यक्त पूर्ण प्रकट बना हुआ है और उसको केवलज्ञानावरण कर्मने ढक दिया है। यदि केवलज्ञान व्यक्त प्रकट पड़ा है तो उसको ढकनेकी सामर्थ्य किसी भी द्रव्यमें नहीं है। किन्तु होता क्या है? ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि केवलज्ञानावरणके उदयका निमित्त पाकर यह आत्मशक्ति व्यक्त प्रकट नहीं हो पाती है। प्रकाशकी अवरुद्धताके लिये सूर्यमेघका दृष्टान्त है। जिसके उदयसे केवलज्ञान प्रकट न हो सके उसका ही नाम केवलज्ञानावरण हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञानकी उद्भूति—केवल ज्ञानावरणके उदय होते हुए भी उस-उस ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे और इन्द्रिय मनके आलम्बनसे यह जीव मूर्तिक द्रव्यको और अमू-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तिक द्रव्यको एक देश विशेष रूपसे जानता है, यही आभिनिबोधिक ज्ञान है । इन्द्रियका विषय मूर्त पदार्थ ही है और मनका विषय मूर्त पदार्थ भी है और अमूर्त पदार्थ भी है, किन्तु ये सब एकदेश जान पाते हैं, सर्वदेश नहीं जान पाते हैं । जो अभिमुख पड़ा हो उसे ही जान पाते हैं और उसे भी नियत । स्पर्शनइन्द्रियसे स्पर्श ही जान पायगा, रसनाइन्द्रियसे रस जानेगा । इन्द्रियका जो-जो विषय है उन इन्द्रियोंके वह-वह जाना जाता है । इस प्रकारका एक संकुचित आभिनिबोधिक ज्ञान हम आप सभी जीवोंके है । मिथ्यादृष्टि जीवोंके यह कुमतिज्ञान कहलाता है और सम्यग्दृष्टि जीवोंके यह सुमतिज्ञान कहलाता है ।

श्रुतज्ञानकी परिस्थिति---अब श्रुतज्ञानको सुनिये---श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है । मतिज्ञानसे जो जाना मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थको उसको एकदेश विशेषरूपसे जाना जाय तो उसका नाम श्रुतज्ञान है । हमने जो शब्द बोले वे शब्द आपके कर्णइन्द्रियसे ज्ञात हुए । वह तो मतिज्ञान है, पर जहाँ आपने यह समझा कि यह कहा है वह श्रुतज्ञान हो गया । शब्दका वाच्य आपकी दृष्टिमें आ जाय तो वह श्रुतज्ञान हो गया । मतिज्ञान तब तक रहता है, कब तक ? जब तक कि निर्विकल्पता रहती है । आपने कुछ विकल्प न किया, क्या कहा और सुननेमें आ गया, मतिज्ञानसे विकल्प कोई रहता नहीं है वह कर्णेन्द्रियज मतिज्ञान है । यदि मतिज्ञानका ही अनुभव रह जाय तो वह भी बड़े भलेकी चीज रहे । उसका अनुभव न करके झट यह जीव श्रुतज्ञानपर पहुंच जाता है । आत्मानुभवकी स्थितिमें ज्ञानका भी प्रसार समझिये । श्रुतज्ञान तो विकल्पात्मक है और ज्ञानानुभूति एक निर्विकल्प स्थिति है । हाँ यह बात अवश्य है कि उपकार श्रुतज्ञानका है । ज्ञानानुभूति पानेके लिए श्रुतज्ञानका पहिले बड़ा भारी सहारा उसे मिला था, और अब यह निर्विकल्प स्थितिमें है ।

आत्मानुभूतिकी आत्माश्रयता---भैया ! वास्तविकता तो यह है कि अनुभूतिकी दशा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक किसी रूपमें नहीं है । लेकिन इन ५ ज्ञानोंको छोड़कर छठी स्थिति और क्या होती है ? अतः इस ज्ञानानुभूतिसे पहिले जैसा ज्ञानका दौड़दौड़ा था, पुरुषार्थ था, वही ज्ञान ज्ञानानुभूतिमें कहा जाता है । मतिज्ञान तो वह है जो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हो, पर ज्ञानानुभूति, आत्मानुभव क्या इन्द्रियसे उत्पन्न होता है ? नहीं । क्या मनसे उत्पन्न होता है ? नहीं । वहाँ अनुभवका और मानसिक ज्ञानका कितना विलक्षण मिलाप हो रहा है, संधि हो रही है, जुहार भेंट हो रही है कि यह मन उस आत्मानुभव वाले ज्ञानके निकट पहुंचकर, उस ज्ञानमें लीन होकर अपने आपके महत्त्वको खो देता है, वह भी उसमें विलीन हो जाता है । श्रुतज्ञान तो सविकल्प है और जिस जिसकी आपको खबर है, कल्पना है, विचार है वह सब श्रुतज्ञान है । भोजन किया, जीभपर भोजन रखा, इसका ज्ञान हुआ, पर जैसे ही आपने यह मनमें बात बनायी कि यह खट्टा है, वह श्रुतज्ञान हो गया, मतिज्ञान नहीं रहा । जितने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विकल्प हैं, विचार हैं वे सब श्रुतज्ञानरूप हैं ।

अवधिज्ञान व अवधिज्ञान नाम होनेका कारण—अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे विकलरूपसे थोड़ा-थोड़ा मूर्त द्रव्यको विशेषरूपसे जो जाना उसे अवधिज्ञान कहते हैं । इसका नाम अवधिज्ञान क्यों रक्खा, इसके कई कारण हैं । अवधिज्ञानने तो स्वरूप जाना ना ? इन्द्रिय और मनकी सत्ताके बिना रूपी पदार्थ एक देश स्पष्ट जाना जाय आत्मशक्तिसे उसे अवधिज्ञान कहते हैं । अवधिज्ञान नाम रखनेका एक कारण तो यह है कि इस ज्ञानका प्रसार नीची दिशामें अधिक होता है और ऊर्द्धदशामें कम होता है अर्थात् अवधिज्ञानी जीव जानते हैं ना सब जगहकी बात, पर नीचेकी बात अधिक दूर तककी जानते हैं । उतनी दूर तक ऊपर की बात नहीं जानते । देवतावोंको अवधिज्ञान होता है तो वे नीचेकी बात तो नरकों तककी जानेंगे और ऊपरकी बात अपनी-अपनी सीमावों तक जानेंगे । उसका नाम अवधिज्ञान है ।

अवधिज्ञान नाम होनेका द्वितीय कारण—अवधिज्ञान नाम पड़नेका दूसरा कारण यह है कि अवधिज्ञानी जीव अवधि सहित जानते हैं, इसमें मर्यादा लगी हुई है, और यह अवधिज्ञान पाँच ज्ञानोंके क्रममें जहाँ रखा हुआ है यह सूचित करता है कि इसमें पहिलेके ज्ञान और यह ज्ञान सब मर्यादा सहित हैं और इसके बादका जो ज्ञान है वह असीम है । एक शंका यहाँ यह की जा सकती है कि अवधिज्ञानके बाद तो मनःपर्ययज्ञान लिखा है, और मनःपर्ययज्ञानकी सीमा है, वह असीम नहीं जानता । तो इसके समाधानसे यह जानो कि इस पद्धतिसे तो ज्ञानों का क्रम यही है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान । यदि इस नम्बरसे आप बोलें, सोचें और न्यायप्राप्त नम्बर यही ठीक है भी और सिद्धान्तमें इस प्रकार की शंका करके यह दृष्टि भी बतायी गयी है । अब तो ठीक बैठा ना कि अवधिज्ञान और इससे पहिलेके ज्ञान सब मर्यादासहित हैं, लेकिन इसके बादका ज्ञान मर्यादारहित है । ठीक है ना ? सुधार लिया, समझ लिया ? लेकिन चूंकि मनःपर्ययज्ञान संयमी जीवोंके ही होता है, असंयमियोंके नहीं, साधु पुरुषोंके ही होता है, इस कारण मनःपर्ययज्ञानकी पूज्यताके कारण इसे केवलज्ञानके निकट अब रख दीजिए । तब यह नम्बर बन गया—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ।

अवधिज्ञानसे ज्ञात पदार्थका श्रुतज्ञानसे व्याख्यान—यह जीव अवधिज्ञानसे तो रूपी द्रव्योंको प्रतिभास लेता है कि क्या है और उसका जब वर्णन करते हैं तब चूंकि इस ही आत्माने अवधिज्ञानको जाना ना, तो उस जाने हुएका यह मन स्मरण रखता है और श्रुतज्ञान के उपयोगसे फिर दूसरे लोगोंको इसका व्याख्यान करते हैं । जैसे थोड़ा बहुत ऐसा अंदाज कर लीजिए, स्वप्नमें आप जो कुछ देखते हैं वह दुनिया तो आपकी निराली है ना और जगनेके बाद जैसी स्थिति आपकी बनती है वह दुनिया स्वप्नसे निराली है, लेकिन स्वप्नमें देखी हुई

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चीज जगनेके बाद भी स्मरणमें रहती है और आप उसका व्याख्यान करते हैं, दूसरोंको बतलाते हैं। यह एक थोड़ा अंदाजके लिए दृष्टान्त कहा है। कोई पूर्णरूपमें कुछ बात नहीं घटती, केवल इतनी बात इस दृष्टान्तमें समझ लीजिए कि जैसे किसी अन्य ढंगसे स्वप्नमें जानी हुई बातको जगने के बाद जहाँ हम मन चाहा विकल्प बताते हैं उस स्थितिमें स्मरण करके उस बातको प्रकट करते हैं, ऐसे ही अवधिज्ञानसे जो जाना वह इसकी निराली दुनिया है निर्विकल्प स्थिति थी। अब उस जाननके बाद जब मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञानका उपयोग हो तो इस सविकल्प अवस्थामें स्मरण कर उसका व्याख्यान किया करते हैं।

मनःपर्ययज्ञानावरण—मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे दूसरेके मनमें ठहरी हुई कोई मूर्तिक पदार्थकी बात एकदेश विशेष रूपसे जान जाय, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। दूसरेके मनमें क्या पड़ा हुआ है उस मनके विकल्पको और मनमें ठहरे हुए पदार्थको जान जाय, यह विशेष निर्मलतासे साध्य बात है। यह मनःपर्ययज्ञान संयमी साधुवोंके होता है, उसमें भी सबके नहीं। एक इस प्रकारकी विशिष्ट ऋद्धि महिमा अतिशय तपश्चरण हो उनके होता है। इस मनःपर्ययज्ञानके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमतिज्ञानके धारी तो उस भवसे मोक्ष जायें या न जायें, कोई नियम नहीं है। वह मनःपर्ययज्ञान छूट जाय अन्य ज्ञान बन जाय, केवलज्ञान न हो यह हो सकता है। किन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान हो तो अब इसके बाद नियमसे केवलज्ञान होगा और मुक्ति पायगा। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तो दूसरेके सरल मनकी बात जानता है। सीधा-सादा विचार हो उसे जानता है, किन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कितने ही मायाचारसे कोई चिन्तन करे, उनमें आधा चिन्तन करे, आधा न करे अथवा सोचा था या आगे सोचेंगे, इन सब बातोंको जान जाता है।

आत्मनिधिकी वार्ता—यहाँ आत्माके ज्ञाननिधिका कुछ विस्तार बताया जा रहा है कि इस आत्मामें कितने चमत्कार हैं, कितनी इसकी महिमा है, जिस महिमाको न जानकर जो कुछ विषयसाधन मिला उसमें ही ऐसा विकल्प बनाया कि यह ही सब कुछ है और इन साधनोंसे ही हमारा बड़प्पन है, हित है, सुख है, सुख है, ऐसा दुर्विकल्प बसाया, यह ज्ञाननिधि दृष्टिमें रहे तो ये दुर्विकल्प ठहर नहीं सकते। कुछ लोग इस बातके लिए हैरान रहते हैं कि हमारे विकल्प बड़े उठते हैं, धर्ममें मन नहीं लगता, चित्त अस्थिर रहता है, ठीक है, ऐसा होगा ही। जब तक अपनी आत्मनिधिकी रुचि नहीं होती है तब तक वास्तवमें धीरता नहीं प्रकट हो सकती। वास्तविक धीरता और गम्भीरता इस महती आत्मनिधिके स्पर्शमें ही है।

दृष्टान्तपूर्वक धीरता व गम्भीरताका एक कारण—जैसे लोकमें दिखता है—जो कोई विशेष बड़ा धनिक होता है उसकी चाल-ढाल कुछ गम्भीर-सी नजर आती है। चाहे उसके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हृदयमें गम्भीरता न हो, मगर कुछ ऐसा ही वातावरण है और वह वातावरण भी किसका ? बड़प्पनकी कल्पनाका। अपने आपमें जो यह कल्पना आ गयी है कि मैं सबसे बड़ा हूं और साथ ही धन भी है, जिसके लौकिक वैभव न हो विशेष और अपनेको बड़ा बड़ा मानता रहे तो उसमें बाह्यमें भी धीरता और गम्भीरता नजर नहीं आती। लौकिक वैभव भी हो, चाहे धनका वैभव हो, चाहे ज्ञानका वैभव हो, उस वैभवके मिलनेपर जो कुछ यह प्रतीति बन गयी कि मैं महान् हूं तो उसकी धीरता और गम्भीरता दिखने लगती है। यह एक लौकिक बात कही जा रही है, किन्तु जिस आत्माके वास्तविक आत्मनिधि प्रकट हुई उसकी दृष्टि जगी हो, रुचि बढ़ी हो तो वह तो परमार्थसे महान है। ऐसा महत्व आनेपर अधीरता नहीं रह सकती।

रुचिपरिवर्तन—भैया! कुशलक्षेम चाहती हो तो अब रुचि बदलनी होगी। क्रोध कषाय जगती है तो उसका विषय बदल दो। अब तक क्रोध दूसरे जीवोंपर आया है, अब क्रोध अपनी त्रुटियोंपर कर लो। मान जगता है, कषाय नहीं मिटती है तो अब इसका मान बदल दो दूसरे जीवोंको निरखकर मान करने लगो। अपने चमत्कार, गुण, वास्तविक स्वरूप महत्त्वको निरखकर तो यह गौरवमें शामिल हो जायगा। मायाचार करते करते बहुत क्षण गुजर गये, आदत बन गयी। नहीं छूटती है तो इस मायाचारकी प्रक्रिया बदल दो। जिन लोगोंके बीच रहना पड़ता है, जिनसे बोलना पड़ता है उनसे प्रेमपूर्वक बोलकर आफतसे निपट लो और भीतरमें प्रेमरहित, रागद्वेष रहित इस ज्ञायकस्वभावकी उपासनामें लगो। तृष्णा करते-करते जीवन गुजर गया, उसका रंग गहरा चढ़ गया। अब एकदम त्याग करते नहीं बनता तो थोड़ी उसकी दिशा मोड़ लो। आत्मविशुद्धिकी तृष्णा करो, मेरा अब निर्विकारता और एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश बढ़ता रहे। जैसे दूकानमें सोचते हो कि अब १० हजार हुए, अब ११ हजार हुए, ऐसे ही अब अपने घरकी बात सोच लो—जीव गृहकी बात सोच लो। इसमें अब इतना लाभ हुआ, इतनी शुद्ध दृष्टि हुई, अब इतनी निर्मलता बनी, अब इतनी विशुद्धि बढ़ गयी है—इस ओर अपनी तृष्णा लाइये। कुछ ही समय बाद ये सब कषाय के रूप भी हट जायेंगे और एक शुद्ध ज्ञानस्वभावका अनुभव रहेगा। यह उपाय केवलज्ञान प्रकट करने का है।

स्वाभाविक विकास—केवल ज्ञानावरणके अत्यन्त क्षय होने पर यह आत्मा केवल ही अर्थात् इन्द्रिय मनका सहारा लिए बिना मूर्त और अमूर्त समस्त पदार्थोंको जो जानता है वह केवलज्ञान है। यह ज्ञान स्वाभाविक है। इसमें परापेक्षता नहीं है। यह जीवकी प्रकृति है, स्वभाव है, यह आश्चर्यकी बात नहीं है। वह तो स्वरूप ही है। आश्चर्यकी बात तो अज्ञानदशाकी है। केवलज्ञानी हो जाय, प्रभु हो जाय, शुद्धविकास बने, लोक अलोक ज्ञानमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहे, यह कोई आश्चर्यकी बात है क्या ? यह तो स्वरूप ही है, स्वभाव ही है । आश्चर्य तो इस बातका होना चाहिए कि हम अज्ञान अवस्थामें पड़े हैं, केवलज्ञान तो जीवका स्वाभाविक विकास है ।

मिथ्यात्वके साहचर्यसे ज्ञानमें विपरीतताका आख्यान—भैया ! जो ये ५ ज्ञान बताये गये हैं, मिथ्यादर्शनके उदयका सम्बन्ध हो तो यही आभिनिबोधिक ज्ञान कुमतिज्ञान कहलाने लगता है । मिथ्यादर्शनके उदयके साहचर्यसे श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान कहलाता है और मिथ्यादर्शनके उदयके सम्बन्धसे यह अवधिज्ञान ही विभङ्गावधिज्ञान कहलाता है । इस प्रकार इस उपयोगके प्रकरणमें पाँच तो सम्यग्ज्ञान और तीन मिथ्याज्ञान, यों ज्ञानोपयोगके ८ भेदोंका वर्णन किया है ।

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं ।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ॥४२॥

दर्शनोपयोगके भेद व चक्षुर्दर्शन—दर्शनोपयोग ४ प्रकारके होते हैं—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । आत्मा तो अनन्त सर्व आत्मप्रदेशोंमें व्यापी विशुद्ध दर्शन सामान्यात्मक है । अर्थात् इन ४ प्रकारके दर्शन पर्यायोंकी आधारभूत जो दर्शनशक्ति है तन्मात्र यह आत्मा है, किन्तु यह आत्मा अनादिकालसे दर्शनावरण कर्मोंके उदयके निमित्तसे दर्शनके विकाससे अवकुन्ठित है, आत्मविकास स्वाभाविक प्रकट नहीं हो रहा है, फिर भी जैसे चक्षुर्दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे और चक्षुरिन्द्रियके आलम्बनसे मूर्त द्रव्य विकल्प सामान्य रूपसे प्रतिभासमें आये वह चक्षुर्दर्शन है । यहाँ चक्षुइन्द्रियके आलम्बनकी बात कही है । दर्शनोपयोग इन्द्रियका आलम्बन लेकर नहीं होता, किन्तु यह दर्शनोपयोग छद्मस्थ जीवके किसी ज्ञानके प्रकट करनेके लिए हुआ करता है । तो चक्षुइन्द्रियका आलम्बन लेकर जो ज्ञान बनेगा उसके लिए जो दर्शन होता है उसका नाम है चक्षुर्दर्शन ।

अचक्षुर्दर्शन—ऐसे ही अचक्षुर्दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे चक्षुके सिवाय शेष चार इन्द्रियाँ अर्थात् स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय और कर्णइन्द्रिय, इनके आलम्बनसे व मनके आलम्बनसे मूर्त और अमूर्त द्रव्यको सामान्य रूपसे प्रतिभास ले उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं । यहाँ यह बात विशेष जाननेकी है कि ज्ञान ५ प्रकारके नहीं होते, अनन्त प्रकारके होते हैं । जितने पदार्थ हैं उतने ही प्रकारके ज्ञान हैं । ऐसे ही दर्शन भी ये चक्षु और अचक्षु ऐसे दो प्रकारके नहीं हैं, इस परोक्षज्ञानीके, किन्तु जितने प्रकारके ये परोक्षज्ञान हैं उतने ही प्रकारके दर्शन हैं । जैसे प्रकरणमें दो भेद किए हैं—चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन । इनका विस्तार बताना है तो यों करिये—स्पर्शनदर्शन, रसनादर्शन, घ्राणदर्शन, चक्षुर्दर्शन, कर्णदर्शन और अनिन्द्रियदर्शन । ६ प्रकारके ज्ञानोंके उत्पन्न होनेके पहिले जो दर्शन होते हैं वे भी उपचारसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उतने ही प्रकारके हो गए।

दर्शनकी निर्विकल्पता— दर्शनमें विकल्प नहीं होता और जो जो विचारात्मक, विकल्पात्मक प्रतिभास जंचता है, जिसकी हम सुध-बुध रखा करते हैं वह सब ज्ञान है। दर्शनके लक्षण यद्यपि कुछ विभिन्न प्रकारके भी पाये जाते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य एक ही है। कहीं यह लक्षण कहा गया है कि पदार्थका आकार न करके जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। कहीं लक्षण कहा है–अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन कहते हैं। कहीं लक्षण कहा है–आत्माके प्रतिभासको दर्शन कहते हैं। इन तीन ही लक्षणोंमें दर्शनका लक्ष्य देखिये। यह तो तीनोंमें ही सम्मत हो गया कि दर्शन निर्विकल्प होता है। जैसे इन शब्दोंमें कह लीजिए कि सामान्यप्रतिभास होता है।

दर्शनके लक्षणोंमें निर्विकल्पताका प्रकाश--सामान्यका अर्थ आत्मा है, यों रख लीजिए इस प्रकरणमें, क्योंकि जब कभी भी हम सामान्यका प्रतिभास करेंगे तब हमें परपदार्थोंका आकार और विकल्प ग्रहणमें न आयगा। यदि आता है तो वह विशेष है। यह तो दृष्टान्तकी बात है। जैसे कहते हैं मनुष्य सामान्य और ब्राह्मण आदिक मनुष्य विशेष। अरे मनुष्य सामान्य ही खुद विशेष है। वह तो दृष्टांतमें अपेक्षाकृत सामान्यकी बात कही गयी है। सामान्य तो वस्तुतः वह है जहाँ भावोंका आकार, पदार्थोंकी विशेषताएँ जहाँ न प्रतिभासित हों, केवल एक सामान्य प्रतिभासमात्र हो वह है दर्शन। तो ऐसा सामान्यप्रतिभास जब होगा तो उनका आश्रय परपदार्थ तो रहा नहीं और निराश्रय कुछ है नहीं प्रतिभासका तो उसका आश्रय पारिशेष न्यायमें आत्मा ही रहा। यों सामान्यका अर्थ आत्मा है, सामान्यका प्रतिभास दर्शन है। इसका अर्थ निकला कि आत्माका प्रतिभास दर्शन है। और अन्तर्मुखी चित्प्रकाशका नाम दर्शन है। इसका ही अर्थ यह निकला कि आत्मप्रतिभासका नाम दर्शन है। अपने आपके आत्माकी ओर अभिमुख होकर जो चेतनाका प्रकाश व्यक्त होता है वह दर्शन है। तो यों दर्शनके सभी लक्षणोंसे यह तो ज्ञात होता ही है कि इसमें आकार विकल्प विशेषताएँ प्रतिभात नहीं होती हैं, तब दर्शन-दर्शन सब एक स्वरूप जानो।

ज्ञान और दर्शनकी समानता--भैया! यद्यपि ज्ञानकी तरह विविधता दर्शनमें नहीं होती, लेकिन छद्मस्थ अवस्थामें जैसा ज्ञान चला वैसा दर्शन हुआ है, क्योंकि यहाँ दर्शनपूर्वक ज्ञान हुआ करता है। तो उपचारसे उतने ही प्रकारके दर्शन हैं और परमात्माके जितने पदार्थका ज्ञान हो रहा है उस समस्त ज्ञान करने वाले आत्माको प्रतिभासमें ले तो ज्ञानमें जितना आनन्त्य है उतना ही आनन्त्य दर्शनमें है। ज्ञान जितने विस्तारमें है, जितनी अनंतताको लिए हुए है उतना ही दर्शनका हुआ।

दर्शनके उपादानकी दुर्लभता--इस दर्शनकी पकड़ बहुत दुर्लभ है। दर्शन होकर भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दर्शन मुझे हुआ, इतना तक भी ख्याल नहीं आ सकता। जैसे ज्ञान होकर यह तो ख्याल आ जाया करता है कि मुझे ज्ञान हुआ, पर दर्शन होकर यह ख्याल नहीं आ पाता कि मुझे दर्शन हुआ। और दर्शनका ख्याल न आ पानेका कारण यह है कि हमारी धुन बाह्यपदार्थोंकी ओर लगी हुई है। इन बाह्यपदार्थोंकी धुनमें यद्यपि एक पदार्थके ज्ञानके बाद दूसरे पदार्थका ज्ञान करनेके बीच दर्शन होता रहता है, लेकिन बाह्यपदार्थोंमें धुन इतनी तीव्र हो गयी है कि बीचमें होने वाले अपने दर्शनकी धुन नहीं रहती है।

दृष्टान्तपूर्वक दर्शनके अवग्रहणकी दुर्लभताका समर्थन—जैसे एक पुरुषको यह इच्छा हुई कि मुझे बहुत बड़ा धनी बनना चाहिए। एक बार किसीने उपाय बताया कि अमुक पहाड़ में कोई पारस पत्थर भी है, वह मिल जाय तो उससे लोहेका स्पर्श होनेसे ही उतना स्वर्ण बन जायगा। उसने वहाँपर बीसों गाड़ी पत्थर समुद्रके किनारे एक जगहपर इकट्ठा करवा दिया और एक लोहेका मोटा डंडा गड़ाकर एक हाथमें पत्थर उठाकर उस लोहेपर मारने लगा और देखता जाय कि यह लोहा सोना हुआ कि नहीं। यदि सोना हो जाय तो समझेंगे कि वही पारस पत्थर है। उन हजारों पत्थरोंमें से कोई पारस पत्थर भी था। तो वह पत्थर मारे, देखे कि अभी लोहा सोना नहीं हुआ, वह झट समुद्रमें वह पत्थर फेंक दे। ऐसा ही काम बराबर जारी रक्खा। तेज धुन बन गयी। इसी क्रियाके बीचमें एक बार पारस पत्थर आ गया, उसे भी उठाया, लोहेपर मारा और फेंका। जब लोहेको देखा तो वह सोना बन गया। सोचा—ओह! वह तो पारस पत्थर था। तो जैसे एक अन्य धुन बन जानेपर धीरता नहीं रही और उस पारसपत्थरसे भी हाथ धो बैठा, ऐसे ही बाह्य पदार्थोंकी ज्ञानकी हम आप धुन बनाये रहते हैं जिस धुनमें हम अपने आपमें प्रकट हुए दर्शनकी सुध नहीं ले पाते हैं।

अवधिदर्शन और केवलदर्शन—सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन यहाँ उपचारसे अनेक भेदरूप बताया जा रहा है। अवधिदर्शनावरणके क्षयोपशमसे मूर्तद्रव्य विकल्परूपसे सामान्यतया प्रतिभासमें आये उसे अवधिदर्शन कहते हैं। ये तीन दर्शन ज्ञानके साथ-साथ नहीं होते। यद्यपि ज्ञान और दर्शन ये दो गुण हैं और इनका प्रति समय परिणमन होता रहता है लेकिन उपयोगकी बात कह रहे हैं। जिस समय उपयोग ज्ञानका है उस समय दर्शनका उपयोग नहीं होता, यह बात छद्मस्थ जीवोंमें है। केवल दर्शनावरणके अत्यन्त क्षय हो जानेपर केवल ही यह स्वयं मूर्तिक और अमूर्तिक समस्त पदार्थोंको सामान्य रूपसे जो जो प्रतिभासता है वह केवलदर्शन है। यह केवलदर्शन नामका विकास स्वाभाविक विकास है। इस प्रकार दर्शनोपयोगके भेदमें ये चार प्रकारके दर्शन बताये हैं।

दर्शनोंमें उपादेय तत्त्व—इन दर्शनोंमें उपादेय दर्शन केवलदर्शन है, पर केवलदर्शन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

के उपायमें केवलदर्शनका अविनाभूत अनन्तगुणोंका आधार जो शुद्ध जीवास्तिकाय है वह ही उपादेय है। इस शुद्ध जीवस्वरूपको शुद्ध जीवस्वरूपके अनुभवरूप निर्विकल्प ध्यानसे पायें। जो बाह्यमें किन्हीं पदार्थोंके संचयके लिए विकल्प करता है उसे न बाहर कुछ मिलता है, न अन्तः सन्तोष निराकुलता होती है, न अन्तरङ्ग समृद्धि प्रकट होती है। और जो अपने अन्तरङ्ग स्वरूपका दर्शन करता है उसे बाह्य समृद्धिसे प्रयोजन क्या रहा ? अन्तरङ्ग समृद्धि उसके अनन्त प्रकट होती ही है। हम अपनी प्रतीति इस प्रकार रक्खा करें कि मैं केवल ज्ञानदर्शनस्वरूप, अपने आपके सत्त्वके कारण केवल प्रतिभासात्मक एक पदार्थ हूं। जो स्वयं में परिपूर्ण है, सुरक्षित है, अन्य समस्त पदार्थोंसे न्यारा है, ऐसा एकत्व विभक्त निज अन्तस्तत्वका आलम्बन केवलज्ञान और केवलदर्शनके प्रकट होनेका कारण बनता है।

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति रोगाणि।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दव्वत्ति णाणीहिं ॥४३॥

ज्ञानकी एकरूपता व नानारूपता—यह ज्ञानी जीव ज्ञानगुणसे पृथक् नहीं किया जा सकता। ज्ञानगुणमें तन्मय है, तब यही सिद्ध हुआ ना कि यह आत्मा एक ज्ञानस्वरूप है। एक ज्ञानस्वभाव होकर भी इस प्रकरणमें ये ज्ञान मतिज्ञान आदिक नाना रूप बताये गये हैं। इस कारणसे ज्ञानी पुरुषोंने इस आत्मद्रव्यको विश्वरूप कहा है। ज्ञानकी पद्धति ज्ञानके स्वरूप की ओरसे देखा जाय तो यह एक स्वरूप है और ज्ञानमें क्या जाना गया, ज्ञानने क्या क्या ग्रहण किया, उन ग्रहणात्मक रूपोंको निरखकर देखा जाय तो यह ज्ञान नानारूप है। दृष्टियोंसे आत्माकी यह सब विलक्षणता ज्ञात हो जाती है।

ज्ञानकी ज्ञानसे अभेदरूपता—यह तो प्रसिद्ध है ही कि ज्ञानी ज्ञानसे अलग नहीं है। जैसे अग्नि गर्मीसे अलग है क्या ? जरा गर्मीको अग्निसे उठाकर दूर रख दो और जब मनमे आये तब उस गर्मीको अग्निमें लगा दो, क्या ऐसा भी हो सकता है ? अरे अग्नि गर्मीस्वभाव को लिए हुए है। ऐसे ही यह ज्ञानी आत्मा ज्ञानसे अलग नहीं है। यह स्वयं ज्ञानस्वरूपको लिए हुए है। दोनोंका एक अस्तित्वसे निर्माण है, अस्तित्व एक ही है। स्वभाव और स्वभाववानका भेद किया गया है। पर चीज वहाँ एक है। किसी भी एक वस्तुको जब हम व्यवहारमें लायें, उसका प्रतिपादन करें तो हम उस एकको एक ही रूपमें बतानेमें असमर्थ हैं। जैसा वह है तैसा ही का तैसा बता दें तो नहीं बता सकते हैं, उसके भेद करके गुणगुणी का भेद करके बतावेंगे।

अन्तस्तत्त्वकी अनिर्वचनीयतापर एक दृष्टान्त—भैया ! तत्त्वकी अनिर्वचनीयता तो है ही लोकमें भी हम आपसे पूछें—मिश्री कैसी होती है ? तो जैसी है तैसी ही एकदम आप उसी रूपमें नहीं बता सकते हैं। उसे कहेंगे बड़ी मीठी है।···भाई अभी हमारी समझमें नहीं

http://sahjanandvarnishastra.org/

आया, कैसी मीठी है ?···तो हम कैसे समझायें ? तुमने क्या कभी मिश्री खाई है ? नहीं, शक्कर खाई है ? नहीं। गुड़ खाया है ? नहीं। गन्ना चूसा है ? हाँ हाँ। तो देखो—गन्नेके चूसनेमें जो मिठास आती है, जितनी मधुरता ज्ञात होती है उससे अधिक मधुरता गुड़में होती है····इसका कारण क्या ? रसको पकाकर उसका बहुतसा मैल निकालकर फेंक देते हैं, वह मैल मधुरताका बाधक है, जो निकला मैल है, उसको चखकर भी देख लो उसमें मधुराई नहीं है। रसका मल दूर करके गुड़ बनाया तो अन्दाज कर लो कि रससे गुड़ कितना अधिक मीठा होता है, और गुड़से भी, रावसे भी जब मैल और छांट दिया जाता है तो शक्कर बनती है। वह मैल भी शक्करकी मधुराईमें बाधक है। उस मैलके निकलनेपर जो मिठास प्रकट होती है वह गुड़से अधिक है। शक्करकी भी चासनी करके उसका मैल भी निकालकर फेंक दिया जाता है। जब वह समस्त मैल दूर कर दिया जाता, तब उसकी मिश्री बनती है। तब समझो वह मिश्री शक्करसे कितनी अधिक मीठी होगी ? समझे ना अब ?···हाँ हाँ, बातोंसे तो समझ गये, पर अभी पूरी समझमें नहीं आयी बात। तब मिश्रीकी एक डली लेकर उसे खिला दो। खानेके बाद पूछो—अब समझमें आया कि मिश्री कितनी मीठी होती है ? हां हाँ अब हमारी समझमें आया।

अन्तस्तत्त्वकी अनिर्वचनीयता—यह आत्मदर्शनकी बात भी अनिर्वचनीय, किन्तु अनुभवनीय है। बातोंसे तो बहुत समझमें आया है, आत्मा जनात्मक है, आनन्दात्मक है, सबसे निराला है और युक्तियोंसे भी देखो—जब आदमी मर जाता है तो शरीर यहीं पड़ा रह जाता है। जो छोड़कर गया है बस वही तो आत्मा है और देखो ये हाथ पैर कुछ जानते नहीं हैं। जो जानने वाला है वह कोई विलक्षण ही पदार्थ है, समझे ना ?····हां बातोंसे तो कुछ कुछ समझ गया।···तो पूर्ण समझ तो तुम्हारे ही पुरुषार्थसे आयगी। जब भेदविज्ञान करके परवस्तुवोंकी उपेक्षा करें और अभेद निज अन्तस्तत्त्वकी ओर झुकें, इन बाह्य विकल्पोंको त्याग दें, शुद्ध विश्राम पायें तो आपके ही पुरुषार्थसे आपको अपने आत्माका दर्शन होगा।

उत्कृष्ट वैभव—इस लोकमें सर्वोत्कृष्ट वैभव है तो आत्मानुभव है। क्यों जी ! तुम्हें चाहिए क्या ? आनन्द। किसीसे पूछो तो वह अपनी चाह बतावेगा, आनन्द। और इसके बाद खूब ज्ञान। ज्ञान और आनंद दो इच्छायें सबके होती हैं। मुझे खूब ज्ञान मिले और आनंद मिले, ये दो प्रकारकी इच्छाएँ सब जीवोंमें पायी जाती हैं। ज्ञान बढ़ानेकी भी इच्छा आनन्दके लिए है, इसलिए मूलमें तो एक आनंदकी इच्छा है, अब आनंद जिस विधिसे मिले उस विधिसे तो मुख न मोड़ा जाना चाहिए। परीक्षा करके देख लो। आनन्द किस विधिसे प्रकट होता है ? आचार्यदेव यहां आत्मानुभवको ही शुद्ध परम सहज आनंदका उपाय बता रहे हैं। श्रद्धान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निर्मल हो, आत्मतत्त्वका झुकाव हो, परमविश्राम मिले तो स्वयं ही वह ज्ञानानुभव जग जाता है जिस आत्मानुभवमें उत्कृष्ट आनन्द बसा हुआ है। ऐसे ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक आत्मा के उपयोगसे सर्व प्रकारका आनन्द प्रकट होता है। धर्मपालनमें हमें एक यही यत्न करना योग्य है।

ज्ञानी और ज्ञानका अभेदपना—ज्ञानी और ज्ञानमें अभेद है, क्योंकि ये दोनों एक ही अस्तित्त्वसे निर्मित हैं। अस्तित्त्व ४ दृष्टियोंसे निरखा जाता है—द्रव्यदृष्टि, क्षेत्रदृष्टि, कालदृष्टि और भावदृष्टि। द्रव्य तो ये दो हैं नहीं, फिर भी चूंकि शंकाकारने अपनी कल्पनामें ये दो पदार्थ सामने रक्खे हैं—ज्ञानी और ज्ञान। तो द्वैत तो हो ही गया ना? अब इन दो में बताया जा रहा है कि अस्तित्व एक ही है। यह तो हुआ द्रव्यसे एकत्व, व्यक्तिसे एकत्व कह लीजिए। शंकाकारकी दृष्टिमें चूंकि ये दो आये हैं, अतः कहना पड़ा है, अन्यथा यह कहना भी क्या शोभा देता है कि ज्ञानी और ज्ञान ये दोनों एक अस्तित्वसे बने हैं। अरे वह एक चीज ही है। उसमें इस प्रकारका विकल्प बनाना शोभा नहीं देता, लेकिन जो घीका घड़ा है यही जानता है उसे समझनेके लिए यह कहना ही पड़ता है कि देखो ना जो यह घीका घड़ा है वह वास्तवमें घीका नहीं है, किन्तु मिट्टीका है, तो जो व्यवहारी जन हैं उनकी भाषाका पहिले आलम्बन लेना ही पड़ेगा। नहीं तो उसे समझायेंगे कैसे?

क्षेत्र व कालदृष्टिसे ज्ञानी व ज्ञानका अभेदपना—क्षेत्रदृष्टिसे देखो तो इन दोनोंके अभिन्न प्रदेश हैं। ज्ञानी अपने प्रदेश जुदे रखता हो, ज्ञानतत्त्व अपने प्रदेश जुदे रखता हो, ऐसा नहीं है। दोनों ही एकक्षेत्रप्रदेशी होनेके कारण एक क्षेत्री हैं। फिर भेद कैसा? कालदृष्टि से देखिये—तो दोनों ही ज्ञानी और ज्ञान एक ही समयसे निर्वृत्त हैं, अतः एक काल है, एक कालका अस्तित्व है ज्ञानीमें और ज्ञानमें याने अनादिसे ज्ञानात्मक है आत्मा।

भावदृष्टिसे ज्ञानी व ज्ञानका अभेदपना—क्या बात कही जा रही है? यह जो मैं हूं सो ज्ञानस्वभाव हूं। मेरा स्वभाव है ज्ञान। ऐसा सुनकर कहीं यह न जान लेना कि मैं एक पदार्थ हूं और ज्ञान कोई मेरा स्वभाव है और वह अलग चीज है। कुछ लोग ऐसा सोचते होंगे कि ऐसा तो कोई नहीं सोचता। या तो उसके सम्बंधमें कोई विचार ही नहीं उठाता और विचार उठाता है तो सीधा यों ही उठाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा जुदा है, ज्ञान जुदा है, फिर उनका सम्बंध होता है, ऐसा तो कोई नहीं सोचता। अरे भाई हम आप कोई न सोचें, पर कुछ दार्शनिक ऐसे हो गए हैं जिन्होंने इस दर्शनका विस्तार किया है कि आत्मा जुदी चीज है, ज्ञान जुदी वस्तु है। आत्मामें ज्ञानका जब समवाय होता है तब आत्मा ज्ञानी होता है। उस सम्बंधमें यह प्रकरण चल रहा है कि आत्मा और ज्ञानस्वभाव ये कोई दो अलग-अलग नहीं हैं। द्रव्य एक है, क्षेत्र एक है, काल एक है और स्वभाव वही है, एक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है । अतः भावदृष्टिसे भी यह एक है, इसमें भेद है नहीं ।

ज्ञानके उपयोग—ज्ञानका ज्ञानसे भेद नहीं किया जा सकता । यह तो एक आन्तरिक दृष्टिसे बात हुई, निश्चयदृष्टिसे बात हुई । अब जब हम इसके उपयोगमें आते हैं, प्रयोगमें जब हम इसका एक व्यावहारिकरूप निरखते हैं तब यह प्रतीत होता है कि एक होने पर भी और स्वभावदृष्टिसे एक होने पर भी आभिनिबोधिक आदिक ये ५ प्रकारके ज्ञानपरिणमन हैं, इनका विरोध नहीं होता, यह भी सिद्ध होता है, क्योंकि यह द्रव्य विश्वरूप है, समस्तरूप है । जो इस जीवमें गुण है और जो इस जीवकी प्रवृत्तियाँ हैं उन समस्त प्रवृत्तियोंरूप यह आत्मा है । क्या वह परिणमन जुदा-जुदा है ? जैसे स्वभावको निरखो, स्वभाव एक है और वह ज्ञानसे अभिन्न है, ऐसे ही उस ज्ञानस्वभावकी जब प्रवृत्ति निरखते हैं तो क्रम भावी विशेष तो होंगे ही । वह शक्ति ही क्या, जिसका कोई व्यक्तरूप न हो, कोई परिणति नहीं है तो शक्तिकी कल्पनाका श्रम करना बेकार है । शक्तियोंका कोई न कोई परिणमन प्रतिसमय होता ही है, चाहे किसी शक्तिकी डिग्रियाँ कम हों कि उनका काम व्यक्त न हो सके, लेकिन कुछ भी जिसका परिणमन न हो सके ऐसी कोई शक्ति नहीं है । उनका अविभाग प्रतिच्छेद बढ़नेसे शक्तियां प्रकट व्यक्त हो जाती हैं, फिर भी ऐसी शक्ति कोई नहीं है जिसका त्रिकाल व्यक्त परिणमन न हो । प्रथम तो ऐसी शक्ति नहीं है जिसका किसी भी समय परिणमन रुक जाय । लेकिन कल्पनामें यह बात लाई जाती है कि शक्तियोंकी डिग्रियां स्वभावतः कम हो जायें तो उनसे व्यक्त परिणमन नहीं होगा । तो जैसे यह स्वभाव यद्यपि एक है, लेकिन व्यक्तियां तो हैं ना । उन व्यक्तियोंकी दृष्टिसे यह ज्ञान अनेकरूप हो गया और यह ज्ञानी उन अनेक परिणमनोंमें तन्मय है ।

द्रव्यकी गुणपर्यायभाजनता—द्रव्य सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायका आधारभूत है, इसलिए अनन्त रूप है । प्रत्येक द्रव्य एक होते हुए भी अपने गुण और पर्यायोंसे सहित होनेके कारण विश्वरूप है । यहां यह बात बतायी गयी है कि जिस प्रकार परमाणुसे रूप अलग नहीं है, पुद्गलसे रूप, रस, गंध, स्पर्श कोई भिन्न चीज नहीं हैं, इन चार प्रकारकी शक्तियोंका पुद्गलमें त्रिकाल निवास है, और इन शक्तियोंके जितने भी परिणमन हैं काला, पीला आदिक उन सब परिणमनोंरूप ये पुद्गल हैं, ऐसे ही इस जीव द्रव्यके जो गुण हैं—यह जीवद्रव्य उन गुणोंमें शाश्वत तन्मय है और गुणोंके जितने भी अतीत कालके, भविष्यकालके, वर्तमान कालके परिणमन हैं उन समस्त अनन्त परिणमनोंमें तन्मय है, इसलिए यह ज्ञान एकरूप होकर भी विश्वरूप है, यह जीवकी सामान्य व्याख्या है ।

शुद्ध ज्ञाता व ज्ञानमें अभेदपना—अब शुद्ध जीवकी अपेक्षा निरखिये तो यह शुद्ध जीव शुद्ध एक अस्तित्वसे निर्वृत्त है मायने रचा हुआ है । लोकाकाश प्रमाण असंख्यात किन्तु

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अखण्ड शुद्ध प्रदेशोंमें हैं। जहाँ केवल एक शुद्ध स्वाभाविक विकास ही रहा करता है। यह प्रभुकी बात कही जा रही है। परमात्माका क्या स्वरूप होता है, उनकी विभूतिका वर्णन है। वह निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र परिणतिसे भूत वर्तमान समयोंमें रचे हुए चले जा रहे हैं। ज्ञानने समस्त लोकालोकको जाना, आनन्दसे पूर्ण निराकुलताका अनुभव किया, ऐसे शुद्ध परिणमन रूप वे बराबर चलते जा रहे हैं। तो कालकी अपेक्षा भी वह अनन्त काल तक भी एक-सी परिणतिरूप रहा करते हैं। निर्मल एक चैतन्यज्योतिस्वरूप होनेसे वह एकस्वभाव है। अब उन शुद्धप्रभुका क्या भेद किया जाय, वहाँ पर भी उनके गुण और पर्यायसे कैसे भिन्नता की जाय ?

अपनी बात—यह जीव पदार्थ ज्ञानानन्दस्वभावी एकस्वरूप है, इतने पर भी जब हम इसके प्रयोगको देखते हैं तो इसके नानारूप हो जाते हैं। यह प्रकरण किन्हीं की समझमें न आये तो इतना श्रद्धान तो बनाया ही जा सकता है कि अपने वैभवकी हमारी बात कितनी गहराईसे जैनसिद्धान्तमें बतायी गयी है। किस्सा कहानीका मनगढ़ंत इतिहास तो बहुत सरल होता है और उसमें दिल भी लगता है और यह तात्त्विक बात गहनकी है जो कि एक जैन दर्शनमें बड़ी सावधानी और नयवादके साथ बतायी गई है। उसका चमत्कार कितना अद्भुत विलक्षण है ? मैं उस ही स्वरूप हूं। जो चीज मेरेमें गुजरना चाहिए, अनुभवमें आना चाहिए जिस रूप हमारा परिणमन हो जाना चाहिए उस रूप होता नहीं और उसकी बात भी बड़ी कठिन और समझसे कुछ बाहर बनी हुई है। तब जानो कि हम कितनी अभी गिरी हुई जगहपर हैं। हमें मोहको नष्ट करके इस ज्ञानप्रकाशमें बढ़नेका काम पड़ा हुआ है।

ज्ञानके भेद प्रभेद—यह आत्मा एकस्वरूप होकर भी नानारूप हो रहा है। इस ज्ञानकी विवक्षावश कितने ही भेद करते जाइये—यह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान और तीन कुज्ञान, इस प्रकार ८ ज्ञानोंकी पर्यायमें रहता है और उसमें भी मतिज्ञान तीन प्रकारसे गुजरता है—भावना, उपयोग और उपलब्धि। उपलब्धि तो प्रथम होती है—इसे कहते हैं लब्धि। किसी पदार्थको जाननेकी योग्यता, अर्थग्रहण करने की शक्ति की प्राप्ति होना, फिर जाना, यह हुआ उपयोग हुआ और उसका कुछ देर तक चिन्तन चला, यह हुई भावना। श्रुतज्ञानके तो बहुत भेद हैं। श्रुतज्ञान दो रूपोंमें निरखा जाता है—एक तो शास्त्रज्ञानके रूपमें और एक जीवोंमें मतिज्ञानके बाद जो विशेष विकल्प करके ज्ञान होता है उस रूपमें। दोनों ही रूप इसके अनेक हैं। अवधिज्ञान भी कोई देशावधि, परमावधि व सर्वावधि यों तीनरूप हैं अथवा कुछ ज्ञान ऐसे होते हैं, अवधिज्ञान जिस जगह पैदा होता है उस जगह रहा आये, अवधिज्ञान चलता रहेगा। उस क्षेत्रको छोड़कर दूसरे नगरमें गया तो अवधिज्ञान समाप्त, ऐसा भी अवधिज्ञान होता है। ऐसा भी होता है कि दूसरे क्षेत्रमें जाय तब भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वहीका वही बना रहता है, मरकर जाय तब भी बना रहता है और मरकर जाय तो न भी अवधिज्ञान बना रहे, ऐसा भी होता है। जितने रूपमें अवधिज्ञान पैदा होता है उससे बढ़ता हुआ चला जाय, ऐसा भी अवधिज्ञान है, घटता हुआ चला जाय ऐसा भी अवधिज्ञान है। कभी घटे कभी बढ़े, यों अनवस्थितिमें होता है जिस रूपमें हुआ उसी रूपमें रहे ऐसा भी होता है, यों भेद अवधिज्ञानके भी बहुत हैं। ऐसे ही मनःपर्ययज्ञानके भी भेद हैं। भेद करना चाहें तो उसके सहभावी भेद भी अनन्त हो जाते हैं। जितने पदार्थोंको जाना उतनी ही ज्ञान की कलायें हैं। इस प्रकार ज्ञानके यों अनेक भेद होते हैं।

अपने हितकारी लक्ष्यका कर्तव्य—भैया ! अनेक भेद होकर भी हम आपको निर्विकार अभेदरूप चैतन्यस्वभावमात्र आत्मतत्त्वको निरखना है जिसके आलम्बनसे यह महान् विस्तार वाला ज्ञानविकास प्रकट होता है। जैसे प्रत्येक मनुष्यको किसी न किसी ओर लगन रहती है। किसीको घरकी लगन है, किसीको स्त्रीकी लगन है। जिसका नया विवाह हुआ है वह अपनी स्त्रीके ही गुण गाता है। किसीको अपने पुत्रकी लगन है। प्रथम बार पुत्र हुआ तो वही-वही दृष्टिमें बसा हुआ है। किसीको धनसे लगन है तो वह जहाँ बैठेगा वहाँ धनके प्रयोजनकी ही बात करेगा। वही एक धुन रहती है। किसीको यश नामवरीकी धुन है तो जगह-जगह भ्रमण, यहाँ वहाँ उपयोग करनेकी धुनमें रहता है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपके बारेमें किसी न किसी रूप अपनी प्रतीति बनाये रहता है, जिस प्रतीतिके कारण उसकी धुन बना करती है। तो ये सारी धुन बेकार हैं, अहितरूप हैं, दुःखके हेतु हैं। अपनी प्रतीति क्या बनायें, अपनी धुन कैसी बनायें ? इस ओर कुछ हितबुद्धिसे दृष्टि दीजिए।

अनात्मप्रतीतिमें हानि—मैं अपनी प्रतीति उस रूप करूं, जो रूप मेरा कभी रहने का नहीं, मिट जायगा तो उस प्रतीतिसे लाभ और स्थिरता नहीं हो सकती। मैं अपनेको लड़कोंका बाप मानूं तो यह बापपना सदा निभ नहीं सकता। खुद मरेगा और कोई लड़का मरेगा तो वह क्लेश पायगा। अपनेको इस दुनियामें नेताके रूपमें माना तो उससे भी पूरा नहीं पड़नेका है। कौनसी लौकिक कीर्ति ऐसी है जिससे इस आत्माका पूरा पड़ जाय ? कौन सी धुन ऐसी है जिसकी धुन लगानेसे आत्मा शान्तिमें ही सदा बसा रहा करे ? वह प्रतीति है अपने सहजस्वरूपकी। मैं स्वरसतः चैतन्य भावमात्र हूं। मैं केवल एक चित्प्रकाश हूं। किसी ने नाम लेकर पुकारा तो इसकी मेरी ओर खिचनेकी क्या जरूरत, यह अन्तर्जल्पसे बोलिये। मैं इस नाम वाला ही नहीं हूं। ये सब लोग अमुक नाम बताया करते हैं। इस नामका न मुझ में कोई लेप है, न लेख है, न सम्बन्ध है। मैं तो एक यह पदार्थ हूं। कोई मुझे अन्य-अन्य विशेषणोंसे पुकारे — सफल व्यापारी, पुरुषार्थी, लोकनायक, धर्मात्मा, श्रावक, गृहस्थ, साधु, त्यागी किन्हीं नामोंको कहकर पुकारे तो क्यों उसकी ओर मेरा आकर्षण हो ? मैं इस रूप हूं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो नहीं ।

नानात्मकताकी प्रतीतिमें असारता—मैं तो एक शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूं, सबसे न्यारा इस देहसे भी जुदा केवल ज्ञानस्वभावरूप यह मैं आत्मतत्त्व हूं, इस प्रतीतिमें कितने ही गुण भरे हुए हैं। नाना प्रतीतिमें कोई सार नहीं है। काहेका यहाँ सुख है? लड़कोंका सुख भी माना जा रहा है। वे आज्ञा न मानें तो जी छोड़कर उनको डाटते भी जा रहे, बड़ी गुस्सामें भी रहना पड़ता है, यह कोई सुख है क्या? परिजनके बीचमें अनेक-अनेक आकुलाहट चलती रहती हैं। फिर भी मान रहे हैं कि यह मैं हूं, ये मेरे हैं, इनसे ही सुख मानते हैं तो यह कोई सुखमें सुख है क्या?

सांसारिक सुखोंका धोखा—अरे भैया! ये सांसारिक सभी सुख ऐसे ही दुःखोंसे भरे हुए हैं। बिना बुना हुआ कोई पलंग हो और उसके ऊपर केवल चादर बिछा दी जाय तान करके और कच्चे सूतसे पायासे चादरकी छोर कस दी जाय। कोई मजाकिया ऐसा कर भी सकता है और किसीसे कह बैठे कि आइये साहब विराजिये। वह उसमें विराज जाय तो उसकी क्या दशा होगी? अरे वह गिर पड़ेगा, हाथ, पैर, सिर सब इकट्ठे हो जायेंगे। तो ऐसे ही तने हुए चादरकी तरह ये सब समागम लग रहे हैं, इनमें सारतत्त्व कुछ नहीं है। आत्मा को ये संतुष्ट कर सकें, ऐसी बात यहाँ एक भी नहीं है। कल भी खाया था, आज भी वही खायेंगे, संतोष तो कुछ भी नजर नहीं आया। वैभवमें, धनोपार्जनमें इतना तेजीसे जुते जा रहे हैं। किनके लिए? मोहमें जिनको अपना मान रखा है उनके लिए। हैं सब जुदे। जिनको समझ लिया कि यह मेरा है, बस उसके ही लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर किए जा रहे हैं। यह क्या है? यह अज्ञानका ही तो नाच है।

प्रभुभक्तिका स्थान—ये समस्त विपत्तियाँ अपने प्रभुकी प्रभुताको पहिचाने बिना हो रही हैं। अपने प्रभुकी प्रभुताको पहिचान जाय तो इस जीवको एक भी संकट नहीं रह सकता है। इस प्रभुको अपने आपमें बैठालनेके लिए ही प्रभुभक्ति, सत्संग और ज्ञानार्जन हैं। ये तीन बातें न भूलिए। किसी न किसी दिन अपने अन्तर्मुखमें अन्तःप्रकाशमान हो जायगा। प्रभु-भक्तिको मत छोड़िये। देखो प्रभुभक्तिका कोई समय निश्चित नहीं है कि हम इस समय प्रभु-कि प्रभु सर्वोत्कृष्ट तो आप ही हैं, यह ही उत्कृष्ट परिणमन है, चमत्कार तो यही सर्वस्व है। भक्ति कर लेंगे। वह प्रभुभक्ति तो योग्यता होनेपर अचानक ही हो जायगी। हाँ उद्यम जरूर करना है ताकि अन्य प्रसंगोंमें चित्त न लुभा जाय। कहो आपको प्रभुभक्तिकी झलक रास्ता चलते हो जाय, घर बैठे हो जाय, कोई जगह हो जाय। ऐसी अन्तरङ्गमें अनुभूति हो जाय सारभूत तो यही पद है, और साथ ही अपनी असारता, अपनी अनुत्कृष्टताको ध्यानमें देकर विषाद, पश्चात्ताप उत्पन्न हो तो भगवानके गुणोंको निरखनेसे उत्पन्न हुआ हर्ष और अपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वर्तमान क्षणमें अवगुणोंको निरखनेसे उत्पन्न हुआ खेद ऐसी हर्ष और खेदकी जहाँ जुहार भेंट हुआ करती है वह है प्रभु दर्शनका एक क्षोभनीय रूप ।

सत्संग व ज्ञानार्जनकी वृत्ति—जो विषय पिपासासे अत्यन्त दूर हों, संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हों, जिनकी धुन एक आत्महितके लिए बनी हुई हो, ऐसे पुरुषोंके संगमें समय बीते तो वहाँ भी उन जैसी दृष्टि बनानेका अवसर मिलेगा । सत्संग भी उपादेय है, और कुछ न कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानार्जन करते ही रहें, उपयोग निर्मल रहेगा । युवक व बूढ़े होकर भी आप जितनी देर हाथमें पुस्तक लेकर बस्ता लेकर पढ़ते जा रहे हैं—हम अब पढ़ेंगे, ऐसा परिणाम होता है उस समय बालकवत् निर्विकारताकी झलक तो आप लोग पा ही लेते हैं । ये तीन चीजें—प्रभुभक्ति, सत्संग और ज्ञानार्जन करके हम अपने आशयको निर्मल बनायें, यही सुखी होनेका उपाय है ।

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणादो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ॥४४॥

द्रव्य और गुणोंकी अभेदरूपताकी प्रसिद्धि—वस्तुस्वरूपके सम्बंधमें यह बताया गया था कि द्रव्य गुण और पर्यायोंका अभिन्न आधार है । जो भी परिणमन हो, परिणमन अनित्य होता है । नया परिणमन होता है प्रति समय और पुराना परिणमन विलीन होता है । जो व्यक्त स्थितियां हैं उनका नाम पर्याय है । और वे पर्यायें इस ही जातिकी हुआ करें, ऐसी उन पर्यायोंका जो मूल है उसका नाम शक्ति है, और शक्ति तथा पर्यायें इन सबका जो समूह है उसका नाम द्रव्य है । यों तो भेदसे अभेदकी ओर आये, अब अभेदसे भेदकी ओर चलें । कोई वस्तु है वह वस्तु एकरूप है, अद्वैत है अपने आपमें । उस वस्तुका जब हम द्वैत रूप देखते हैं तो यह विदित होता है कि प्रत्येक वस्तुमें प्रतिसमय नवीन-नवीन परिणमन होता है और वह परिणमन अपनी-अपनी शक्तिके अनुरूप होता है । यों अभेदसे भेद बन गया । ऐसे भेदात्मक वस्तुस्वरूपको सुनकर कोई पुरुष यदि भेदको एकान्त करने लगे—द्रव्यसे गुण भिन्न ही होता है, इस प्रकारसे कोई भेदका एकान्त करे तो उस मंतव्यमें क्या दोष आता है ? उसका वर्णन इस गाथामें चल रहा है ।

द्रव्य व गुणोंको भिन्न माननेपर दोषापत्ति—गुण और द्रव्यके सम्बंधमें बात चल रही है । गुण किसी न किसी जगह आश्रित हुआ करता है । जहाँ आश्रित होता है उस ही का नाम द्रव्य है । वह द्रव्य यदि गुणोंसे अभिन्न है तो रहा आये अभिन्न, लेकिन इस नियममें भ्रम नहीं हो सकता कि जहाँ गुण आश्रित रहे उसका नाम द्रव्य है, तब अन्य कुछ द्रव्य खोजिए । जिस द्रव्यको खोजें वह भी अन्य है तो इस प्रकार खोजते जाइये । द्रव्य गुणात्मक होता है, उस द्रव्यके गुण भी द्रव्यसे भिन्न हैं तो कहाँ टिकेंगे ? क्या गर्मी अग्निसे भिन्न होती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है ? यदि भिन्न है तो उस गर्मीका आश्रय बतावो, वह गर्मी कहाँ ठहरती है ? लो यों अग्नि भी नहीं रही, गर्मी भी नहीं रही। बिना आधारके गर्मी क्या, बिना गर्मीके अग्नि क्या ? जैसे अग्नि और गर्मी इन दोनोंको भिन्न-भिन्न माननेपर न अग्निकी सत्ता रह सकती, न गर्मी की सत्ता रह सकती, इसी प्रकार द्रव्य और गुणोंको भिन्न-भिन्न माननेपर न द्रव्यकी सत्ता रह सकती, न गुणका सत्त्व रह सकता। जो बात जैसी नहीं है वहाँ वैसी कल्पना करो कितनी आपत्ति आती है ?

गुण गुणीके भेदहठमें एक द्रव्यमें अनन्त द्रव्यका प्रसंग—गुण नाम अंशका है और गुणी नाम अंशीका है, पूरेका नाम गुणी है और उसके एक धर्मका नाम गुण है। अंशसे अंशी जुदा नहीं रह सकता, अंश अंशीके आश्रय ही रहा करता है। यदि कोई यह हठ करे कि अंश से अंशी जुदा होता है तो यह तो निश्चित ही है ना, कि अंश आधारके बिना नहीं रह सकता। उसके लिए कोई अन्य अंशी चाहिए। गुण द्रव्यके बिना नहीं रह सकता तो गुणका कोई आधार चाहिए। इस द्रव्यको तो अलग मान लिया, फिर जो भी आधार मानेंगे वहाँ भी भेद की कल्पना हो जायगी। तब गुण और आधार कल्पनाएँ करिये। यों द्रव्य अनन्त हो जायेंगे अथवा यों ही मान लीजिए उतने ही द्रव्य होंगे, जितने गुण हैं। वे स्वयं स्वतंत्र द्रव्य हो गये, पर ऐसा है नहीं। द्रव्य तो गुणोंके समुदायका नाम है। क्या यह गुण उस गुण समुदायसे भिन्न है ? गुणसमुदायसे भिन्न माननेपर सीधीसी बात यह है कि गुण रहेंगे और न द्रव्य रहेंगे।

यथार्थज्ञानसे ही शान्तिलाभ—यह बात अंतस्तत्त्वकी चल रही है। मूढ़ लोग तो द्रव्य-द्रव्यका मेल बैठाल लेते हैं। यह एक चीज है, शरीर है सो मैं हूं। अपनी सुध न रखना यह महान गल्ती है। दो चीजोंको एक मान लेना भी गलत है और एक चीज़को दो मान लेना भी गलत है। जब तक अपने अभेद ज्ञानस्वभावमात्र निज तत्त्वकी सुध न होगी तब तक इस आत्माको धीरता, गम्भीरता, शान्ति, निराकुलता आ ही नहीं सकती। परवस्तुसे अपना सहारा माना, हितकारी माना, तो पर तो पर ही है। परको जैसा परिणमन परिणमेगा। यहाँ यह व्यामोही जीव अनेक कल्पनाएँ बनाकर अनुकूल परिणमे, प्रतिकूल प्रतिकूल परिणमे इन कल्पनाजालोंमें उलझकर खेदखिन्न रहा करता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपनी गुण-पर्यायोंमें तन्मय है। कोई पदार्थ किसीके गुण पर्यायरूप नहीं होता है। जब ऐसी वस्तुस्थिति है तो एक द्रव्यका दूसरा द्रव्य क्या लगा ? कुछ भी सम्बंध नहीं है। यों भिन्न असम्बद्ध स्वतन्त्र पदार्थको निरखनेसे मोहका विनाश होता है। जहाँ मोह अंधेरा नहीं रहा वहाँ इस जीवको शान्ति प्राप्त होती है। तब वस्तुस्वरूपके सम्बंधमें वास्तविकता क्या है ? अब उसका वर्णन कर रहे हैं।

http://sahjanandvarnishastra.org/

अविभत्तमणण्णत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं।
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विरीदं हि वा तेसिं ॥४५॥

गुणगुणीकी अविभक्तप्रदेशिता—द्रव्य और गुणोंका जो अनन्यभाव है, ज्ञान है, सो ही आत्मा है। आत्मा है सो ही ज्ञान है। आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानस्वरूप है, इस रूपसे जो अनन्यता ज्ञान होती है वह अविभक्तता है। पदार्थ तो भिन्न तब कहलाता है जब कि प्रदेश न्यारे-न्यारे हों। वह अपनी बोडीमें हो, वह अपनी बोडीमें हो, तब तो वे दो पदार्थ कहलाते हैं। पर यहाँ तो अग्निका और द्रव्यका एक ही प्रदेश है। समझानेके लिए गुणगुणीका भेद किया जाता है। यहाँ तो जो है सो है। तो ऐसी अनन्यताको ही अविभक्तपना कहते हैं। इस अविभक्तपनेमें यह बात बनी हुई है कि कदाचित् द्रव्यकी सिद्धि न हो, द्रव्यका नाश हो तो गुणका भी अभाव होगा। द्रव्यका नाश हो तो द्रव्यका भी अभाव होगा। जैसे एक परमाणु एकप्रदेशी है, क्या वह परमाणु अपने प्रदेशसे विभक्त है? एक प्रदेशमें जैसे वह परमाणुद्रव्य रह रहे हैं ऐसे ही रूप, रस, गंध, स्पर्श ये सब शक्तियाँ रहती हैं, पृथक् नहीं हैं, ऐसी ही समस्त द्रव्योंकी बात है। जिस-जिस द्रव्यके जो जो गुण हैं वे उस द्रव्यसे पृथक् नहीं हैं।

गुणगुणीमें लक्षणभेद होनेपर भी प्रदेशोंका अभेद—द्रव्य और गुणमें लक्षणका तो भेद है, पर प्रदेशका भेद नहीं है। लक्षणके यों भेद हैं। गुण उसे कहते हैं जो एक अंशरूप हो, द्रव्य उसे कहते हैं जो गुणोंका पिंड एक अंशी हो। यों लक्षणमें तो भेद आता है, पर प्रदेशमें भेद नहीं आता। जैसे आममें रंग, स्वाद, गंध, स्पर्श ये चार जाति मालूम होती हैं ना, स्पर्शका ही तो नाम रस नहीं, स्वादका ही तो नाम रंग नहीं। रंग चीज अलग है, स्वाद चीज अलग है, पर क्या प्रदेशभेद भी है? रंग किसी प्रदेशमें हो, स्वाद किसी प्रदेशमें हो, प्रदेश एक है, पर लक्षणभेदमें उनमें भेद पड़ा हुआ है। यों तो जीवके गुणों गुणोंमें परस्पर व्यतिरिक्तता जानना। आत्माका प्रदेश, रूप आदिकका प्रदेश वह सब एक ही है। ऐसे ही आत्माका और ज्ञानका प्रदेश एक ही है, केवल लक्षणभेद है। आत्मा गुणी है और ज्ञानगुण है। यों गुणीगुणकी व्यतिरिक्तका जाननी। किसी भी एक वस्तुमें ५० बातें हम जानना चाहते हैं तो प्रदेश तो वही है और उन ५० बातोंमें फर्क जरूर है। एक मोटा दृष्टान्त लो—यह एक चौकी है, इस चौकीमें लम्बाई है ना? चौड़ाई भी है, रंग भी है, तो लम्बाई जिस जगह है रंग उस जगह नहीं होता। चौड़ाई जहां है वहां रंग न हो, दूसरी जगह हो, क्या ऐसा है? नहीं है। चीज वह एक है और उस एक चीजके सम्बंधमें हम जितनी बात समझेंगे उन सबका आधार वही प्रदेश है। यों ज्ञानी और ज्ञानमें भेद न डालना।

ज्ञानी और ज्ञानमें अव्यतिरिक्तताके अवगमका लाभ—ये सब बातें जोर देकर क्यों कही जा रही हैं? इसलिए कि हम यह श्रद्धान बनायें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं। अन्य बातें तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जानें, पर अन्य बातोंपर लक्ष्य न बनायें। लक्ष्य बनायें असाधारण स्वरूपपर। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं। जो जानन है, ज्ञानप्रकाश है तन्मात्र हूं। ऐसा ज्ञानप्रकाशमात्र कोई अपनेको जाने तो वह ज्ञानकी अनुभूति कर लेगा। और ज्ञानानुभूतिको ही आत्मानुभूति कहा है। आत्मा में अनेक गुण हैं, आत्मा असंख्यातप्रदेशी है। यह आत्मा पैरोंसे लेकर सिर तक फैला हुआ है, इतनी लम्बी-चौड़ी जगहमें आत्मा फैल रहा है, ये बातें तो आत्मानुभूतिके निकट नहीं करने वाली हैं, इन बातोंसे आत्मानुभूति नहीं हो रही है। अच्छा और-और बातें विचारो, आत्मा आकाशकी तरह अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है। यों दृष्टिमें लेनेसे भी आत्माकी अनुभूति नहीं हो पाती। आत्माकी और-और बातें सोच लीजिए। आत्मानुभूतिके निकट ला सकने वाली कोई दृष्टि है तो वह ज्ञानदृष्टि है।

मौलिक कल्याणमयी चिन्तन—अब कुछ ऐसा भी सोचने लगिये—मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानप्रकाशमय हूं। ज्ञान क्या ? जानन। जानन क्या ? यह प्रतिभास। यों चिन्तन करते-करते जानन ज्ञानमें आ जाय, स्वरूपकी झांकी आ जाय तो ज्ञानकी तो अनुभूति हुई ना ? उस ज्ञानकी अनुभूतिके ही साथ निर्विकल्प दशा होती है। कारण यह है कि अब इस प्रसंगमें जानने वाला भी ज्ञान है और जिसे जान रहा है वह भी ज्ञान है। तो जब ज्ञान और ज्ञेय अभेद हो गया वहाँ निर्विकल्पता आती ही है, विकल्प क्या करेगा ? जाननमें दूसरा आये, जानने वाला दूसरा हो तो वहाँ विकल्प रहता है। जब निर्विकल्प स्थिति हो जाती है तो ऐसी स्थितिका अनुभव आत्मानुभव कहलाता है। यह कल्याणकी बात, आत्मानुभूतिकी बात एक अपने सहज ज्ञानस्वभावके अनुभवमें बसी हुई है। सर्वोत्कृष्ट आनन्द पानेका उपाय हम आप सबमें सहज बसा हुआ है।

बाह्यदृष्टिमें अनर्थलाभ—यह बाह्य पदार्थोंका संयोग, बाह्य पदार्थोंका लक्षण, बाह्य पदार्थोंका प्रेम, परिजन कुटुम्ब आदिकको प्रसन्न बनाये रखनेका यत्न—ये सब बड़े कठिन हैं। ज्यों-ज्यों नम्र बनो, ज्यों-ज्यों परिजनोंकी ओर झुको, ज्यों-ज्यों उनसे प्रेम करो, ज्यों-ज्यों अपना सर्वस्व उन्हें सौंपनेकी बात सुनावो त्यों-त्यों उनके और मान चढ़ता है, और अपने आपमें वे ऐसा महत्त्व आंकने लगते हैं कि कुछ ही समय बाद उनकी ऐसी चेष्टाएँ होने लगती हैं कि वे आपकी चेष्टावोंको प्रतिकूल मानने लगेंगे। तब फिर क्या करें आप ? यह तो ज्ञानी पुरुषोंके सोचनेकी बात है।

अज्ञानियोंका स्पष्ट निर्णय—अज्ञानियोंका तो स्पष्ट निर्णय है कि घर वाले कैसे भी रक्खें, वे रहनेके लिए तैयार हैं। जैसे कोई एक बाबाजी को उसके नाती-पोते बहुत परेशान करते थे। कहीं मूंछ पटायें, कहीं सिरपर चढ़ें। वह बूढ़ा कभी-कभी रोने भी लगे। एक बार

उधरसे निकला कोई संन्यासी, पूछा—बाबाजी ! तुम क्यों रोते हो ? तो उस बूढ़े बाबाने सारी बात बतायी कि ये हमारे नाती-पोते हमें बहुत तंग करते हैं—कभी सिरपर चढ़ते हैं, कभी मूंछ पटाते हैं। तो संन्यासीने कहा—अच्छा हम तुम्हारा संकट मिटा दें ? तो वह बूढ़ा बोला, हाँ महाराज हमारे संकट मिटा दो। उसने सोचा कि संन्यासी जी कोई ऐसा मंत्र फूंक देंगे कि ये नाती-पोते फिर हमारे आगे हाथ जोड़े खड़े रहा करेंगे। तो जब कहा कि हमारे संकट मिटा दो तो संन्यासी बोला—अच्छा घर छोड़कर हमारे साथ चल दो, तुम्हारे सारे संकट मिट जायेंगे।···उस बूढ़ेने कहा—अरे ! तुम कौन हमें बहकाने आये, हम तुम्हारे संग नहीं जायेंगे। अरे ये चाहे कितने ही मारें, पीटें, ये मेरे नाती-पोते ही रहेंगे और हम उनके बाबा ही रहेंगे। तो अज्ञानियोंका तो स्पष्ट ही निर्णय है। निर्णय तो ज्ञानियोंको करना है कि हमें क्या करना है ?

ज्ञानी गृहस्थोंकी चर्या—गृहस्थजन परिजनोंके बीच रहते हैं, उन्हें सब प्रकारके व्यावहारिक कार्य करने पड़ते हैं, करें, पर व्यावहारिक रागव्यवहार कार्य करके जो भी बाधाएँ आ सकती हैं, उन बाधावोंसे दूर होकर अपने काममें तो लग जायें—यही करनेका काम है। धन वैभव परिजन, इनको ही सर्वस्व माननेका मोहांधकार यह दुःखी ही करेगा, बरबाद ही करेगा। कोई इसमें सार नहीं है, लेकिन परिस्थिति गृहस्थीकी है, वहाँ अनेक बातें करनी पड़ती हैं, कर लीजिए, किन्तु जो यथार्थ बोधकी बात है उससे विमुख मत होइये। यह सब साहस सम्यग्ज्ञान होनेपर ही तो हुआ करता है।

ज्ञानबलका महत्त्व—देखिये भैया ! महत्व ज्ञानका ही है। एक भैंसा जो कि ६०–७० मन बोझ ढोता है, वह कितना ताकतवर होता है ? पर एक ८, ६ वर्षका लड़का उसे जहाँ चाहे ले जाता है। यह क्या बात है ? अरे उस लड़केमें ज्ञान है, विवेक है और उस भैंसेमें उतना ज्ञानबल नहीं है, इस कारण वह भैंसा उस छोटेसे लड़केके वशमें रहता है। तो बुद्धिबलकी, ज्ञानबलकी महिमा अद्भुत है। अपना ज्ञानबल बढ़ावो तो यह साहस भी बढ़ेगा। आध्यात्मिक जीवन अध्यात्म ज्ञान बिना नहीं बन सकता।

आत्माकी ज्ञानमयता—इस अन्तराधिकारमें यह चर्चा चल रही है कि यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं। यह जल और दूधकी तरह भी एक जगह बसा हुआ नहीं है। वहाँ भी प्रदेश भेद है। जलकी अत्यन्त छोटी बूंद जो आप हाथसे भी नहीं कर सकते, सींक डालकर भी नहीं कर सकते, जिस बूंदको आप सुईसे गिरायें उसमें भी अनगिनती और बूंदें हैं। ऐसे ही दो-दो एक-एक बूंदें दो-दो एक-एक दूधकी बूंदके आसपास बसी हुई हैं। दूधमें पानी नहीं है, पानीमें दूध नहीं है, पर उनका इतना घनिष्ट मिलाप है, सम्पर्क है कि हम आपकी समझमें

http://www.jainkosh.org

नहीं आ पाता। तो जैसे दूध और पानी भिन्नप्रदेशी हैं उतने भी भिन्न प्रदेशमें आत्मा और ज्ञान नहीं हैं। ये एक रूप हैं। भगवानके स्वरूपकी भक्तिकी बात भी हमारे उपयोगमें तब ही होती है जब हम अपने उपयोगको 'केवल ज्ञानमात्र हूं' इस प्रकार अनुभव करें। वह ज्ञानमात्र प्रभु स्वयंमें है ना और उस ही रूपसे हम प्रभुमें निरखें तो यह समानता हो जानेके कारण प्रभुभक्ति बनती है।

ज्ञानी और ज्ञानमें व्यवहारमें कथंचित् भेद व निश्चय अभेद—इस आत्मा और ज्ञान में केवल पहिचाननेके लिए भेद है, वैसे भेद नहीं है कि आत्मा कुछ न्यारी जगहकी बात हो और ज्ञान कुछ न्यारी जगहकी बात हो। अपने आपको मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, जानन-रूप हूं, जानन प्रकाशमात्र हूं, ऐसा प्रतीत करके इस प्रकारकी भावनामें रत हो जाइये। अन्य बातोंको छोड़ दो। तो अन्य बिकल्प दूर कर लेनेसे और एक ज्ञानमात्र अपने आपकी धुन बना लेनेसे ऐसी निर्विकल्पता आयगी कि बस उस ज्ञानमात्र होनेकी स्थितिमें ही, अनुभवमें ही विशुद्ध आनन्द जगेगा, इससे ही कर्मक्लेश कटेंगे।

विशुद्ध आनन्दकी कर्मक्लेशसंहारकता—कर्मक्लेश कटेंगे, तो इस विशुद्ध आनन्दके द्वारा ही कर्म कटेंगे। तपस्याकी वेदनाओंसे कर्म न कटेंगे। तपस्या तो विषयकषायोंके परि-णामोंको रोकनेमें एक सहायक उपाय है। जैसे दो बच्चोंमें लड़ाई हो जाय, तीसरा कोई मित्र है तो वह दूसरे बच्चेको मारेगा तो नहीं, किन्तु उसका कुछ हाथ पकड़ लेगा, उसको रुद्ध कर देगा और वह मार देगा, उसे अवसर मिल गया। ऐसे ही यह तपस्या बिषयकषायोंको रुद्ध कर देती है, रोक देता है, फिर इस ज्ञानको मौका मिलता है। वह अपने आपके स्वरूपमें प्रवेश कर जाता है। यों यही निर्णय रखिये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। इस ज्ञानस्वरूपकी भावना बनायें, इस ही रूप अपनी प्रतीति रक्खें, इस ही रूप अपना आचरण बनायें, इसको ही सार समझें, इससे ही अपने भाव उज्ज्वल होंगे और निकट भविष्यमें ही अवश्य शांति पा लेंगे।

वददेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते वहुगा।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंसे ॥४६॥

अभेदमें विवक्षावश भेदका कथन—इस प्रकरणमें यह बात कही जा रही थी कि आत्मा और ज्ञानमें भेद नहीं है। न तो आत्माके प्रदेश न्यारे हैं और न ज्ञानके प्रदेश न्यारे हैं। आत्मा ही ज्ञानस्वभावको रखता हुआ रहा करता है। ऐसी आत्माकी और ज्ञानकी अनन्यमयता सिद्ध करनेके पश्चात् अब व्यावहारिक प्रयोजनसे आत्मा और ज्ञानमें किसी दृष्टि से भेद भी हुआ करता है, इसका वर्णन इस गाथामें किया जा रहा है।

अभिन्न व भिन्न दोनोंमें भेदकथनकी शक्यता—द्रव्य और गुणके जो भेद होते हैं वे अन्य-अन्य प्रकारसे किए जा सकते हैं अर्थात् देखे जा सकते हैं। उनमें चार मुख्य प्रकार हैं—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय। ये चार क्या चीजें हैं? इनका स्पष्ट विवरण स्वयं इनके विशेष वर्णनके समय हो जायगा। संक्षेपमें यों जानो व्यपदेश नाम है नामका। किसीका नाम कुछ, किसीका नाम कुछ। संस्थान नाम है आकारभेदका और संख्या मायने गणना और विषय मायने भाव, आधार, आश्रय ये चार प्रकारके भेदक भिन्न पदार्थोंमें भी होते हैं और अभिन्न पदार्थोंमें भी ये भेद देख लिए जाते हैं।

भिन्नमें व्यपदेशादि कथन——जैसे बारूमलकी गाय, तो यहाँ दो चीजें भिन्न हैं, बारूमल जुदे हैं, गाय जुदी है, आकार भी भिन्न है ना। ऐसा तो नहीं है कि कभी चार पैर वाले बारूमल दिख जायें और कभी दो हाथ पैर वाली गाय दिख जाय। आकार न्यारा-न्यारा है और गणना भी यह गायमें है, यह बारूमलमें है, उसके अंगोंमें गणना न्यारी-न्यारी है, और आधार भी जुदा है, विषय भी जुदा है। बारूमलकी खुराक, बारूमलका रहना अलग है, गाय की खुराक, गायका रहना अलग है। बारूमल महलमें रहते हैं, गाय आंगनमें रहती है तो भिन्न-भिन्न चीजोंमें भी तो ये चार प्रकारके भेद निरखे जाते हैं। और अभेदमें भी चार प्रकारके भेद कर लिए जाते हैं।

अभिन्नमें व्यपदेशादि कथन——जैसे वृक्षकी शाखा। क्या वृक्ष जुदी चीज है और शाखा जुदी चीज है, फिर भी एक प्रदेश, एक क्षेत्र होनेपर भी व्यवहारमें तो ऐसा कहा ही जाता है, गलत तो नहीं है कुछ। कोई यदि यह कह दे कि इस वृक्षमें ५ शाखायें हैं तो बताओ इस वृक्षकी ५ शाखायें हैं तो यह गलत बात तो नहीं कही? देख लो हैं इस वृक्षमें ५ शाखायें, पर वृक्ष कोई अलग चीज हो और उसकी ये शाखायें अलग हों, ऐसा तो नहीं है। तो एक वस्तुमें भी एक चीजमें ही विवक्षा प्रयोजन आदिकके भेदसे भेद कर लिया जाता है। संस्थान भी देख लो, वृक्षका आकार तो उस समूचेको दृष्टिमें रखकर आप जानेंगे। यह वृक्षका आकार और शाखाका आकार उतने अंशको दृष्टिमें रखकर जान जावोगे——शाखाका यह आकार है, तो वृक्षका आकार जुदा है और शाखाका आकार जुदा है। जितने रूपमें वृक्षका आकार निरखा गया क्या उतने रूपमें उस पद्धतिमें शाखाका आकार दिख जाता है? जिस रूपमें जितनी पद्धतिमें शाखाका आकार दिख जाता है, क्या उस पद्धतिमें उस रूपमें वृक्षका आकार दिख गया? लो आकार भी भिन्न-भिन्न है और संख्या भी न्यारी है। वृक्ष तो एक है, शाखायें ५ हैं और विषय भी न्यारा है। वृक्षका अवगाह वृक्षमें है, शाखाका अवगाह शाखामें है, इतनेपर भी वे एक क्षेत्रावगाही हैं, भिन्न क्षेत्रमें नहीं हैं। तो अभिन्नमें भी ये ४ प्रकारके भेद दिख जाते हैं। इनके अलावा और भी भेद तकिये।

अभिन्न व भिन्न दोनोंमें कारकव्यपदेश——बहुतसे कारक भेदमें भी होते और बहुतसे कारक अभेदमें भी होते। जैसे बारूमल बाल्टीमें गायके लिए घरसे दलिया लाकर आंगनमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गायको घुली खिला रहे हैं। देखो सभी चीजें न्यारी-न्यारी हैं ना, घर जुदा, बारूमल जुदा, बाल्टी जुदा, दलिया जुदा, गाय जुदा, आंगन जुदा, छहोंके छहों कारक न्यारे-न्यारे हैं तो भेद में भी यह ६ कारकोंका प्रयोग देखा गया है और अभेदमें देख लो। यह मिट्टी खुद ही खुदके द्वारा, खुदके लिए, खुदको खुदमें घड़े रूपको उत्पन्न करती है। यह बात गलत तो नहीं है ? ये अभेदमें कारक हैं, एक चीज है वह मिट्टी, और जो कुछ हो रहा है, जिसके द्वारा हो रहा है, जिसके लिए हो रहा है वे सबकी सब बातें अभेद हैं। तो भेदमें भी षट्कारकका व्यपदेश है और अभेदमें भी षट्कारकका व्यपदेश है। यह आत्मा आत्माके द्वारा अपने लिए अपनेसे अपनेमें अपनेको जानता। है ना यह यथार्थ बात।

भिन्न व अभिन्न दोनोंमें संस्थानभेदका कथन—भिन्नमें भी संस्थानका भेद होता है। जैसे हृष्ट-पुष्ट बारूमलकी गाय हृष्ट-पुष्ट है। पुष्टका संस्थान ही तो हुआ है। दो जगह भिन्न-भिन्न जुदे संस्थान हैं, और अभिन्नतामें भी देखा जाता है। पुष्ट वृक्षकी पुष्ट शाखायें हैं। वृक्ष और शाखायें कोई जुदी-जुदी चीजें तो नहीं हैं···एक बात है, फिर भी ये दो संस्थानके भेद दिख गये। यह वृक्ष भी पुष्ट है और यह शाखा भी पुष्ट है या कभी गाय तो हो जाय दुबली और बारूमल ज्योंके त्यों रहें तो कहा जा सकता है कि पुष्ट बारूमलकी गाय दुर्बल है। देखो जुदे-जुदे संस्थान दो जगह हो गए। कोई वृक्ष ऐसा होता है कि वृक्ष हो जाय पुष्ट और शाखा तने से बड़ी दुर्बल निकल जाय तो वहाँ भी यह कह सकते हैं कि इस पुष्ट वृक्षकी यह दुर्बल शाखा है, पतली शाखा है। तो अभेदमें भी संस्थानका भेद किया जाता और भेदमें भी संस्थानका भेद किया जाता। यहाँ आत्माका ज्ञानगुण अभिन्न है, सो अभिन्नमें यह भेद किया गया है।

भिन्न व अभिन्न दोनोंमें संख्याभेदका कथन—संख्याका भेद देख लो। जैसे यह कहा जायगा कि बारूमलकी दो गायें हैं—एक गाय और एक बछिया, तो संख्या दो हो गयी। बारूमल एक ही रहे तो भिन्नमें भी संख्याका भेद है, और ऐसा भी तो बोल सकते कि एक वृक्षकी ५ शाखायें हैं तो अभेदमें भी गणना हो जाती है, ऐसे ही आत्मद्रव्यके अनन्तगुण हैं तो देखो गुणोंकी संख्याएँ तो बहुत हैं और आत्मा एक ही है, तो अभेदमें भी संख्याभेद निरखा जाता है। यह उक्त ४ प्रकारके भेदोंका जुदा-जुदा विवरण चल रहा है।

भिन्न व अभिन्न दोनोंमें विषयभेदका कथन—अब विषयभेद देखो—आधारभेद देखो। जैसे बहुत दिनों तक गायकी सेवा करते-करते हैरान हो गए तो सलाह करके यह तय किया कि दिनभर यह गाय चर आया करे। बरेदी सबकी गायें ले जाता है तो उनमें यह भी चली जायगी और दिनभर चर आयगी। तो गायोंका जो समूह है संस्कृतमें उसका नाम है—गोष्ठ और हिन्दीमें नाम है हेड़। उस हेड़का जो उस समय मालिक हो वह हो गया हेड़मास्टर याने बरेदी। अब हेड़में गाय जाने लगी तो यों कहा कि यह गाय हेड़में है। तो वह गाय अन्य

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गायोंसे भिन्न चीज है। भिन्नता और अभिन्नताका भेद यों जानना कि जहाँ भी प्रदेशभेद हो उसे मानो भिन्न और जहाँ प्रदेशभेद न हो उसे मानो अभिन्न। भेदमें व्यवहार ठीक ही है। आँगनमें गाय है, कमरेमें गाय है। जैसे भेदमें भी विषय होता है यों ही वृक्षमें शाखायें हैं, यों अभेदमें भी आधार आधेयका भेद किया जाता है। ऐसे ही आत्मामें ज्ञानादिक गुण हैं यह अभेदमें आधार-आधेयका भेद किया गया है।

अन्तस्तत्त्वके दर्शनकी शिक्षा—इस प्रकरणसे हमें क्या समझना है कि आत्मा और ज्ञानके बारेमें भेद-कथन भी किया जा रहा हो कि आत्मामें ज्ञान है, आत्माका ज्ञान है, ज्ञान का यह स्वरूप है, आत्माका यह स्वरूप है आदिक भेद किए जायें तब भी निश्चयसे यह जानना कि वे भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं। आत्मा और ज्ञान अभेद एक पदार्थ हैं। प्रकृतमें यों निरखना कि नामकर्मके उदयसे जो मनुष्य नारकी आदि संज्ञा मिली है, आप कौन हैं? मनुष्य हैं, बारूमल कौन हैं? मनुष्य हैं और गाय क्या है? तिर्यञ्च है, पशु है। यद्यपि ये व्यतिरेक नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं, फिर भी शुद्ध जीवास्तिकायकी दृष्टिसे निरखिये। कोई प्रकारका जिसमें संस्थान नहीं है, ऐसा वह सब एक-एक चेतनात्मक पदार्थ है।

व्यक्त उपादेय तत्त्व—अब जरा व्यक्त रूपसे सिद्ध भगवानमें निरखिये शुद्ध जीवास्ति-कायपना। अंतिम देहसे कुछ कम देहके आकारमें उनके संस्थान हैं। केवलज्ञानादिक अनन्त गुण हैं। इस आत्मामें अनन्त गुणोंके संस्थान हैं। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशी हैं। पंच इन्द्रियोंका अब वहाँ विषय नहीं रहा। एक शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनंद रससे परिणत उनका ध्यान विषय है, तो उस शुद्ध जीवास्तिकायको भी निरखिये जो व्यक्त रूपसे है, वह हम आपके लिए उपादेय है और यह भी स्वभावमें निरखिये जहाँ कि यह भेद गायब हो जाता है, ऐसा शुद्ध अन्तस्तत्त्व हम आपके लिए उपादेय है।

> णाणं धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं।
> भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू ॥४७॥

भिन्न व अभिन्नमें कर्तृत्वका कथन—इस गाथामें वस्तुधर्मका भेद कहा है, और अभेद किस तरह किया जाता है उसका भी कुछ उदाहरण दिया है। जैसे यह कहा करते हैं कि धन पुरुषको धनवान बना देता है, यह भेदमें व्यवहार है। धन जुदी चीज है, पुरुष जुदी चीज है ऐसा भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें लो व्यवहार बनाया गया है यह भेद व्यवहारका उदाहरण है, और यह कहना कि ज्ञान पुरुषको ज्ञानी बना देता है, यह अभेद उदाहरणमें है। ज्ञान जुदी चीज नहीं है, पुरुष जुदी चीज नहीं है, एक ही पदार्थमें विवक्षावश भेद करके बताया गया है। वस्तुतः वहाँ अभेद है। ऐसा ही सर्वत्र जानना।

व्यवहारकथनका निश्चित लक्ष्य—भैया! व्यवहारकथनको निश्चयदृष्टिका सच म

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मान लो। किसमें क्या कहा गया है, किसका संकेत किया गया है उसे सच मानो। जैसे माता अपने बच्चेको गोदमें लेकर ८ बजे रातको छतपर खड़ी होकर चंदामामा दिखाती है—देखो बेटा! वह है चंदामामा। अंगुलीसे दिखाती है। कहीं वह अंगुली ही चंदा नहीं बन गयी, पर उस अंगुलीके सहारेसे उस सीधे मार्गसे निरखे तो चंदा दिख जायगा, ऐसे ही किसी वस्तुके सम्बंधमें कुछ भेद कथनसे बतानेकी बात चल रही हो तो उस भेदमें ही उलझ नहीं जाना, किन्तु उस भेदको एक संकेत ही बनाकर वक्तव्य वस्तुकी ओर दृष्टि करना। जैसे कभी आयुर्वेद की कक्षाके विद्यार्थियोंको हिमालय पर्वतपर भ्रमणका प्रोग्राम बने, उनके साथ उनका गुरु भी जाय बतानेके लिए। वह एक बेंतसे बताता जाय देखो यह अमुक रोगकी जड़ी है, यह अमुक रोगकी दवा है, यों वह गुरु बेंतसे उन सभी विद्यार्थियोंको सभी दवायें बताता जा रहा है तो क्या कोई विद्यार्थी उस बेंतको ही दवा मान लेगा? शायद हो भी कोई ऐसा भौंदू विद्यार्थी जो उस बेंतको ही रोगकी दवा जान जाय, पर वहाँ सभी विद्यार्थी बराबर पहिचान रहे हैं, जिस जड़ीपर बेंतकी छाया की, झट विद्यार्थी पहिचान गये कि यह अमुक रोगकी औषधि है। तो जैसे उस बेंतके द्वारा औषधिको बताया जा रहा है ऐसे ही शब्दोंके द्वारा वस्तुको बताया जा रहा है, पर शब्द ही वस्तु नहीं है। जैसे किसीसे कहा जाय कि देखो तुम आत्माको जानो तो क्या इसका यह अर्थ है कि बड़ा आ, आधा त और बड़ा मा इन शब्दोंको जानो? इन शब्दोंपर ही दृष्टि न दो, क्या कहा गया था इस बातको समझ लो। जो एक निरन्तर जानन-हार शाश्वत ज्ञानमय पदार्थ है उसके स्वरूपकी जाप और भावनाके लिए कहा गया है। शब्द तो एक सहारे हैं। काम तो अन्तः करनेका है।

भिन्न व अभिन्नमें कर्तृत्वव्यवहारका विवरण—देखो यहाँ भेदमें भी व्यवहार है। धनका अस्तित्व जुदा है ना, पुरुषका जुदा है ना। धनमें शब्द अलग हैं, पुरुषमें शब्द अलग हैं, धनका आकार अलग है, पुरुषका आकार अलग है। धनकी संख्या जुदी है, पुरुषकी संख्या जुदी है, धनका आधार विषय जुदा है, पुरुषका आधार जुदा है, फिर भी यह कह डालते हैं कि धन पुरुषको धनी बना देता है, यह भिन्न पदार्थोंमें व्यवहार किया गया है कर्तृत्वका, और ज्ञानकी बात देखो तो ज्ञानका अस्तित्व ज्ञानी पुरुषका अस्तित्व वही है। ज्ञान ज्ञानीको ज्ञानी बना देता है। व्यपदेश वही, संस्थान वही, संख्या वही, आधार वही। तो यह अभिन्नमें भी कर्तृत्वका व्यवहार चल रहा है। तो व्यवहारसे तो यह भेद आत्मामें दिख जाता है, पर निश्चयसे यह भेद नहीं है। जो जीवके साथ अभिन्न रूपसे रह रहा है, अभिन्न जिसका संस्थान है, संख्या है, अभिन्न ही जिसका आधार है, ऐसा ही यह अंतस्तत्त्व इस जीवको समृद्ध बनाया करता है और जिसे इस अंतस्तत्त्वका लाभ नहीं है, उस ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि नहीं है तो मनुष्य तिर्यंच नारकादिक गतियोंमें भ्रमण करता हुआ यह जीव इन कर्मोंको भोगकर क्लिष्ट

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो रहा है। ऐसे अपने आपके सहजस्वरूपकी दृष्टिके बिना यह सारी आपत्तियोंका जाल बिछ गया है, और इसकी भावना बन जाय, ऐसा अंतर बल प्रकट हो कि निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हो तब ऐसी शुद्ध स्थिति प्राप्त करनेके लिए हम आपका क्या कर्तव्य है कि इस निर्विकल्प स्व-सम्वेदन ज्ञानकी ही हम भावना करें।

सत्यके आग्रह व असत्यके असहयोगका प्रयोग—भैया ! जैसे मोहमें मोहियोंको भिन्न पदार्थोंमें तृष्णाका भाव जगता है, अपनानेकी हठ बनती है ऐसे ही ज्ञानी होकर इस ज्ञानस्व-रूपको ही अपनानेका आग्रह करें, सत्यका आग्रह करें और असत्यका असहयोग करें। आत्मा सत्य है, जो शाश्वत चित्स्वभाव है उसका तो आग्रह करो, मुझे अन्य कुछ न चाहिए, और असत्यका, विकारपरिणामोंका असहयोग कर दीजिए। हमारा इनका कोई सहयोग न मिलेगा। हमारा सर्वस्व अपने सहजस्वभावके लिए समर्पित हो चुका है। इस सत्यके आग्रह और असत्य असहयोगके बलसे स्वयं ही अपने आपमें निर्विकार विशुद्ध आनन्द जगेगा और उस आनन्दके अनुभवमें ही सर्वकल्याण है, ऐसा वह स्वयं अपने आपमें समझ जायगा।

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥४८॥

ज्ञानी और ज्ञानमें पृथक्त्व माननेपर आपत्ति—इस प्रकरणमें यह बात चल रही है कि आत्मासे ज्ञान जुदा नहीं है। ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है। केवल समझने और समझानेके लिए गुणगुणीका भेद किया है तो केवल व्यवहारके लिए भिन्नता है, किन्तु वस्तुमें उससे अभिन्नता है। इस गाथामें यह बताया जा रहा है कि द्रव्य और गुणको यदि भिन्न-भिन्न मान लिया जाय तो उसमें क्या दोष आता है ? यदि यह ज्ञानी अर्थात् आत्मा और यह ज्ञान सदा भिन्न ही चीजें हों तो ज्ञान रहा अलग, और आत्मा रहा अलग, तो आप यह बतलावो कि ज्ञानरहित आत्माकी स्थिति क्या होगी ? क्या वह चेतन माना जा सकता है ? ज्ञान है नहीं, मात्र आत्मा है तो वह अचेतन बन गया। इसी प्रकार यह ज्ञान जो कि आत्मासे भिन्न माना गया है, ज्ञानका आधारभूत कुछ रहा नहीं, बिना किसी आधारके कोई शक्ति हुआ भी करती है क्या ? तो आधारभूत द्रव्य न होनेसे यह ज्ञान भी नहीं रहा अथवा आधारभूत द्रव्य तो चेतन था। उसका अब सम्बंध रहा नहीं तो यह ज्ञान भी अचेतन हो गया। यह सिद्धान्त जिनेन्द्र भगवानके शासनमें सम्मत नहीं है। उसको अवमतके रूपमें देखा गया है।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानी और ज्ञानमें अभेदका प्रतिपादन—जैसे अग्निसे उष्णता यदि भिन्न मान ली जाय, आग अलग चीज है और गर्मी अलग चीज है, ऐसा यदि भेद कर दिया जाय तो इसका क्या अर्थ होगा ? गर्मी नहीं है और आग है। तो क्या ऐसी आग जिसमें गर्मी नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है ईंधनको जलानेमें समर्थ हो सकती है ? नहीं । वह तो गर्मी शून्य है, शीतल है । इसी प्रकार ज्ञान गुणसे अत्यन्त भिन्न यदि यह आत्मा है तो यह जीव किसी पदार्थको जाननेमें समर्थ हो सकता है क्या ? नहीं । तब यही तो निश्चय हुआ कि आत्मा जड़ है ।

भिन्नकारणिकमें भी अभिन्नकारताकी खोज—कदाचित् कोई ऐसा कहें कि जैसे देवदत्त कुल्हाड़ीसे काठ काटता है—तो देवदत्त जुदा है, कुल्हाड़ी जुदा है । तो करण जिसके द्वारा कार्य किया जा रहा है वह है कुल्हाड़ी, कुल्हाड़ी जुदी चीज है, देवदत्त जुदी चीज है । जुदे-जुदे होनेपर भी कुल्हाड़ीके द्वारा देवदत्तने काठ काट ही तो दिया है । यों ही यह आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता है । ज्ञान जुदा रहे, आत्मा जुदा रहे, फिर भी यह आत्मा ज्ञानके द्वारा जान लिया करेगा, कौनसी आपत्ति आती है ? एक यह आशंका भिन्नवादी ने रक्खी है । समाधान यह है कि जैसे देवदत्तके दृष्टान्तमें बतलाया कि देवदत्तने कुल्हाड़ीके द्वारा काठको छेदा, ठीक है, पर देवदत्तके हाथका व्यापार न होता तो क्या काठ छेदा जा सकता था ? देवदत्तके हाथ देवदत्तसे अभिन्न हैं और इस अभिन्न आंशिकका व्यापार ही मूलमें प्रेरक हो रहा है । ऐसे ही आत्माका ज्ञान आत्मासे अभिन्न है, वह ही मूलमें जाननके लिए प्रेरक हो रहा है ।

ज्ञानके बाह्योपकरणताका अभाव—चेतन कार्यके प्रति जैसे वह कुल्हाड़ी बाह्य उपकरण है ऐसे ही आत्माका बाह्य उपकरण ज्ञान नहीं है । वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर उत्पन्न हुआ जो आत्माका वीर्य विशेष है, शक्ति है वह आभ्यंतर उपकरण है । यदि यह शक्ति न प्रकट हो तो यह आत्मा कैसे जान सकता है ? हाँ कुल्हाड़ीके दृष्टान्तकी जगह ज्ञानके बाह्य साधन अथवा गुरु आदिक बहिरङ्ग कारण दार्ष्टान्त समझ लीजिये हैं । जैसे गुरुके द्वारा हम ज्ञान सीखते हैं तो गुरु तो कुल्हाड़ीकी तरह भिन्न है, पर यह ज्ञान जो एक आत्माका शक्ति विशेष है वह भिन्न चीज नहीं है । अपना बहिरङ्ग कारण भी हो और ऐसा अन्तरङ्ग कारण का अभाव हो तो क्या कार्य हो जाता है ? जैसे बहिरङ्ग कारण कुल्हाड़ी तो रखी है, पर देवदत्त अपने हाथका व्यापार न करे तो क्या काठ छिद जायगा ? ऐसे ही गुरु शास्त्र प्रकाश सब कुछ सामने मौजूद हों और एक स्वयंका ज्ञान विशेष शक्ति विशेषका प्रयोग न हो तो क्या ज्ञान हो जायगा ? तो जिस ज्ञानके अभावसे यह जीव जड़ हो जाता है उस ज्ञानपर दृष्टि देना अपना कर्तव्य है ।

आत्मा और ज्ञानकी विभक्ततामें दोषका विवरण—ज्ञान जीवसे भिन्न चीज नहीं है । ज्ञान यदि ज्ञानीसे भिन्न हो तो ज्ञानको कुछ कर्ताका सम्पर्क नहीं मिला । आत्मा है कर्ता । इस ज्ञानको कर्ताका सम्बन्ध नहीं रहा तो भला बतलावो कि कुल्हाड़ी पड़ी हुई है, काटने वाला कोई पुरुष न हो देवदत्त आदिक तो क्या वह कुल्हाड़ी स्वयं काठको काटनेकी सामर्थ्य रखती है ? नहीं । इसी तरह इस शंकाकारने ज्ञानको भी माना है, आत्माको भी माना है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर जुदा-जुदा माना है। तो आत्मा जुदा रहा, ज्ञान जुदा रहा। आत्मा कर्ता है, ज्ञान करण है। क्या यह ज्ञान आत्माके बिना कुछ जाननेमें समर्थ हो सकता है ? नहीं हो सकता है। तब ज्ञानको और आत्माको जुदा-जुदा माननेपर आत्मा भी अचेतन बन गया और ज्ञान भी अचेतन बन गया।

आत्मामें ज्ञान गुणकी उत्कृष्टता—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यद्यपि यह आत्मा और ज्ञान जुदी-जुदी चीज हैं लेकिन आत्माका व ज्ञानका संयोग हो जाता है। सम्बन्ध हो जानेसे फिर ज्ञान भी चेतन हो गया, आत्मा भी चेतन हो गया। किन्तु बात यह घटित हो नहीं सकती, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपना विशेष लक्षण लिए बिना, अपना कुछ स्वभाव किए विना द्रव्य ही क्या है ? जो अपने असाधारण लक्षणसे रहित है ऐसा द्रव्य तो असत् है। है ही नहीं। नाम ही लेना बेकार है। इसी तरह ऐसा गुण जिसका कोई आश्रय नहीं है, निराश्रित गुणोंका भी अभाव है। यों आत्मा और ज्ञान जुदे जुदे ठहर ही नहीं सकते। आत्मा ही स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

इस आत्माका ज्ञान एक असाधारण लक्षण है, और है क्या ? आत्मामें अस्तित्व भी है, वस्तु भी है। अनेक साधारण लक्षण हैं, अमूर्तपना भी है, सो और सब तो मानते जावो, उसमें ज्ञान भर मत मानो, आत्मामें ज्ञानस्वभाव है ऐसा न मानो। उस ज्ञानस्वभावको अलग कर दो तो बुद्धिमें आत्मा कुछ चीज रही क्या ? आत्माका प्राण अर्थात् जिससे आत्माका अस्तित्व रहता है वह लक्षण तो चैतन्य है। ऐसा चैतन्यस्वरूप यह मैं आत्मतत्त्व हूं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूं, शरीर नहीं हूं। वैभव परिजन धन ये कुछ मैं नहीं। जितने विकल्पके तरंग हैं वे सब मैं कुछ नहीं हूँ। मैं तो केवल एक चैतन्यस्वरूप तत्त्व हूं। यही है निज शुद्ध आत्मतत्त्व।

कैवल्य—शुद्धका अर्थ केवल होता है, सिर्फ उस चीजको रहने दे उसका नाम शुद्ध है। प्योर किसे कहते हैं, उसको जो केवल हो। कैवल्य हुए बिना पवित्रता नाम किसका ? कोई चीज दूसरी चीजसे मिलकर गंदी हो गयी तो उसे कैसे शुद्ध करते हैं ? उसे धो-धाकर अलग कर देते हैं। जो है उसे वही रहने दिया जाता है। इसी तरह व्यक्त रूपमें यह आत्मा अशुद्ध हो गया तो उसे शुद्ध कैसे करना है ? जितने भी अन्य तत्त्वोंका सम्बंध हो गया है उनको हटाकर केवल आत्मा ही आत्मा रहने दिया जाय उसको कहते हैं आत्माका शुद्ध करना। ऐसे ही शुद्ध सिद्ध भगवान हैं, और उस ही उपायमें अपने आपमें निरखा जाय तो हम आप भी सिद्ध बन सकते हैं, क्योंकि हम आपका भी स्वरूप वही है जो सिद्धका है।

आत्माका सहज स्वरूप—यह मैं आत्मा जो कुछ मैं हूं, स्वयं अपने आप स्वतःसिद्ध अपनी सत्ताके कारण क्या हूं, कितना हूं, कैसा हूं, इसपर दृष्टि दी जाय तो यह विदित होगा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि यह तो केवल चित्स्वभावमात्र है। किसी परके सम्बंध परकी उपेक्षा लगाये बिना परके निमित्तसे जो कुछ होता है उसे भी निरखे बिना केवल अपने सत्त्वके कारण जो इसमें हो वह भाव क्या है ? वह भाव मिलेगा चित्स्वभाव। यह चित्स्वभाव शुद्ध है अर्थात् किसी परकी अपेक्षा रखकर न देखो। केवल एक अपने आपको स्वभावमात्र है, ऐसा इस शुद्ध आत्माका जो अनुभव है, उपयोग है, ज्ञान है वह वीतराग सहज उत्तम आनन्दको झराता हुआ प्रकट होता है। सारी करामात ज्ञानकलाकी ही तो है। हम अपने ज्ञानका जिस प्रकारसे प्रयोग करेंगे वैसा ही हमपर सुख दुःख अथवा आनंद बीतेगा। हम विकल्पात्मक पद्धतिसे इसे प्रयोग में लायें तो दुःख होगा, विकल्प होगा, और निर्विकल्पताकी पद्धतिसे देखेंगे तो निर्विकल्प दशा होगी।

ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणीति व वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि ॥४९॥

समवाय सम्बंध——कोई दार्शनिक आत्मा और ज्ञानको भिन्न-भिन्न मानकर उसमें समवाय सम्बंध बताकर जानन क्रियाकी सिद्धि करते हैं। समवाय सम्बंधका लक्षण संयोगसे गम्भीर है, संयोगमें भिन्न क्षेत्रपना है, किन्तु समवायमें भिन्न क्षेत्रपना नहीं किया जाता। और यों समझ लीजिए——कथंचित् तादात्म्य कहा जा सकता है। इस प्रकारका सम्बंध माना है, लेकिन समवाय सम्बंध मानकर भी वहाँ द्रव्य दो माने गए हैं जहाँ मूलमें ही द्वैत चल देगा। अब समवाय सम्बंध करके कितनी ही घनिष्टता उसकी बतायी जाय तो भी स्वरूप नहीं बन सकता।

तादात्म्यके विपरीत समवायकी असिद्धि——ज्ञानसे भिन्न आत्मा है, वह ज्ञानके समवायसे ज्ञानी कहलाता है, ऐसा कहना युक्त यों नहीं है कि यह तो बताओ कि इस ज्ञानका आत्मामें जब समवाय न हुआ था, सम्बन्ध न हुआ था तब क्या यह आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी था ? यदि यह कहें कि ज्ञानका समवाय समाप्त होनेसे पहिले भी यह आत्मा ज्ञानी था तो ज्ञानी तो था ही। अब ज्ञानका समवाय सम्बन्ध जोड़नेकी आवश्यकता क्या रही ? यह सम्बन्ध निष्फल ही रहा। यदि यह भेद किया गया कि ज्ञानका समवाय सम्बन्ध होनेसे यह आत्मा ज्ञानी न था तो वह अज्ञानी भी कैसे रहा ? क्या अज्ञानका समवाय होनेसे अज्ञानी रहा या अज्ञानके साथ एकत्व माननेके कारण अज्ञानमय होनेके कारण यह आत्मा अज्ञानी रहा ? यदि कहेंगे कि अज्ञानके समवायसे यह आत्मा अज्ञानी रहा तो वहाँ पर भी प्रश्न करें कि इस अज्ञानका समवाय सम्बन्ध होनेसे पहिले यह आत्मा अज्ञानी था या नहीं ? अगर अज्ञानी था तो अज्ञानका समवाय करना निष्फल है और यदि न था, तो अज्ञानका समवाय आत्मामें ही कैसे हो गया। दूसरी बात यह है कि अज्ञानके समवायसे पहिले अज्ञानी न था

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञानी था। तो ज्ञानी स्वयं ही रहा, फिर ज्ञानके समवाय करनेकी क्या जरूरत है ? आत्मा ही ज्ञानस्वरूप प्रसिद्ध हो गया। अब तो कुछ भी समवाय की पद्धति नहीं रही।

ज्ञानहीन आत्माके साथ ज्ञानके समवाय होनेके कारणकी असिद्धि—आत्माकी ज्ञानरूपता सिद्ध होनेपर भी यदि हठ करोगे कि ज्ञानका समवाय होनेसे पहिले आत्मा ज्ञानी नहीं है तो इसका कुछ कारण तो बतलावो कि यह ज्ञान इस आत्मासे ही क्यों समवाय सम्बंध रखता है ? भींत, ईंट, दरीसे यह ज्ञान अपना समवाय क्यों नहीं जोड़ देता ? कौनसी खास विशेषता रही, जो यह ज्ञान आत्मासे तो जुड़े और पुद्गल आदिकसे न जुड़े। जैसे ज्ञानसे भिन्न चीज पुद्गल है, ऐसे ही ज्ञानसे भिन्न आत्मा है, और जैसे यह पुद्गल ज्ञानरहित है ऐसे ही यह आत्मा ज्ञानके समवायके पहिले अज्ञानी कहलाता है। तो आत्मामें और पुद्गल आदिकमें जब ज्ञानके लिए सब बातें बराबर हैं तो यह ज्ञान आत्मामें ही जुड़े, पुद्गल आदिकमें न जुड़े इसका क्या कारण होगा ? तो शंकाके उत्तरमें प्रति शंकामें रूप रखकर जो यह बात कही गयी है कि अज्ञानी आत्मा अज्ञानके समवायसे पहिले ज्ञानी था या न था ? यदि था तो अज्ञानका समवाय निष्फल है और यदि न था तो इसका अर्थ है कि ज्ञानी हो गया। ज्ञानी वैसे भी नहीं कहा है, क्योंकि समवायसे पहिले ज्ञान कहाँ रहा ? आखिर तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि यह आत्मा ज्ञानी है तो ज्ञानके साथ एकत्व है। जो पदार्थ जैसा है वह अपनेमें एकत्वको लिए हुए है, अपने स्वभावमें तन्मय है और उसही एकत्वसे उस वस्तुकी सिद्धि होती है तो इसके लिए जैसे अज्ञानके साथ एकता होनेके कारण आत्माको ज्ञानसे रहित मानना पड़ा है, इस ही प्रकार यह आत्मा ज्ञानी है तो ज्ञानके साथ एकता रखनेके कारण ज्ञान है। ज्ञान जुदा हो, आत्मा जुदा हो, ऐसी बात त्रिकाल भी नहीं है। यह आत्मा ही एक ज्ञानस्वरूप को लिए हुए है। कभी भी यह आत्मा ज्ञानसे भिन्न नहीं हो सकता।

व्यक्तरूपमें भी ज्ञानहीनताका अभाव—संसार अवस्थामें यद्यपि यह ज्ञान बहुत अधिक ढका हुआ है, अव्यक्त है, प्रकट नहीं हो रहा है और ऐसे भी जीव हैं जिनकी दशा निरखकर आप यह कह बैठेंगे कि आत्मा तो ज्ञानका कुछ नहीं है। ये पत्थर मिट्टी आदि पृथ्वीकायिक जीव हैं। क्या इनमें यह कल्पना दौड़ती है कि यह जीव है, इसमें ज्ञान है, यह जानता है। कोई ही सिद्धान्तवेदी ऐसा कहते हैं कि इनमें जीव है, ज्ञान है, जानते हैं, पर प्रायः लोग इन्हें ज्ञानरहित बताते हैं। कदाचित् जीव भी मान लो तो भी कहेंगे कि है तो जीव, मगर ज्ञानरहित है, ऐसी भी निकृष्ट दशायें हो जाती हैं। उससे भी निम्न दशायें निगोद जीवकी हैं, ज्ञानरहित मालूम होते हैं लेकिन जीव है तो कोई ज्ञानरहित नहीं है। कितना भी ज्ञान ढका हो फिर भी कुछ न कुछ निरावरण होनेसे रहता ही है। पूर्ण ज्ञानपर आवरण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं है । जितने अंशों तक यह ज्ञान निरावरण रहता है, कैसी भी निम्नतम स्थिति हो तो भी प्रकट ही रहा करता है । उसके अतिरिक्त जो आवरण योग्य है उसमें भेद चला करता है कि इसका ज्ञान आवृत है, इसका व्यक्त है ।

ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिका शिक्षण—यह ज्ञान आत्माका स्वरूप है, इसमें भिन्नता नहीं की जा सकती है । इस कथनसे अपनेको क्या ग्रहण करना है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं । ज्ञान के अतिरिक्त मेरा कोई और स्वरूप नहीं है । वैभव आदिक ये मुझसे प्रकट निराले हैं । इनके साथ मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है । मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप हूं । यह सब मोहका अंधेरा है कि जो मैं नहीं हूं जिसका मुझसे रंच सम्बन्ध नहीं है ऐसे परिजन वैभव आदिक परपदार्थोंमें आत्मीयता जगती है । यह खुश होनेकी बात नहीं है, बड़े कष्टकी बात है । कोई चीज सुहावनी लगी, किसीके प्रति राग जगा और वह अपने अधिकारमें हो गया, अपना बन गया, बड़े बड़े प्रेमसे मिल जुलकर रहने लगे तो यह स्थिति संतोष करने लायक नहीं है । यह महान क्लेशका कारण बनेगा, यह संसार ही महागर्त है । आत्माका जो स्वभाव है स्थिर प्रतिभास उस स्वभावसे चिगे कि सारी की सारी आपत्ति ही आपत्ति है ।

ज्ञानभावमें निरापदता—भैया ! निरापद तो ज्ञानस्वभाव है । इसको छोड़कर बाकी समस्त चीजें तो अपदा ही हैं । अनुभव करके देखलो । जब अपना उपयोग एक इस ज्ञानस्वभावके स्वरूपके जाननेमें रहता है, निकट रहता है, इस ज्ञानभावको अंगीकार करता हुआ जब हमारा उपयोग चलता है उस समय कितनी निर्विकल्पता रहती है, कितनी निराकुलता और शान्ति रहती है ? जहाँ मेरा तेरा ऐसा विकल्प उठा और जिसे माना कि यह मेरा वैभव है, वैभवमें सन्तोष किया उसका ही संग्रह बनाये रहनेकी वासना बनाई, ये सारे उपयोग आपत्ति हैं, समृद्धियां नहीं हैं, ये जीवके स्वरूप नहीं हैं, ये जीवके कलंक हैं । जिन बातोंमें बढ़ कर हम अपनेको चतुर मानते हैं वे सब चतुराई चतुराई नहीं हैं, किन्तु जीवका कलंक हैं । चतुराई तो इस जीवकी अपने स्वरूपका परिचय बनाये रहना है । एक ही निर्णय रखिये–एक निज शुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभव ही हमारे लिए शरण है, सारभूत है, उसमें ही हमारा कल्याण निहित है । अन्य तो सब पर भाव हैं । इस प्रकरणसे हमें यह शिक्षा लेनी है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ भी मेरे में नहीं है, ऐसा ही दृढ़ निर्णय बनाएँ जिससे मोहका विनाश हो और अपने अन्तः प्रभुके दर्शन हों ।

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य ।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धिति णिद्दिट्ठा ॥५०॥

गुणीमें गुणके तादात्म्यका समर्थन———गत गाथावोंमें इस प्रकरणमें यह बताया गया था कि आत्मा ज्ञानसे अनन्य है । आत्मा ज्ञानमय है । इसके विरोधमें कुछ दार्शनिकोंने

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपनी युक्ति रखी। आत्मा और ज्ञान भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। उनका संयोग होता है तब आत्मा जानता है। इसमें आपत्ति देनेके पश्चात् फिर यह कहा गया कि आत्मा और ज्ञानमें संयोग सम्बंध तो नहीं है, किन्तु समवाय सम्बंध है। जैसे घड़ेमें रूपका समवाय है, रसका समवाय है, ऐसे ही आत्मामें ज्ञानका समवाय है। समवाय सम्बंध अपृथक्, अभेदमें होता है और वह अयुतसिद्धमें माना जाता है।

संयोगसम्बन्ध व समवायसम्बंधमें अन्तर—भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें जो सम्बंध बना, उसका नाम है संयोगसम्बंध, और उसमें संयोगके कालमें भी वे पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं, किन्तु समवायमें जिसका समवाय कहा जाता है वह पृथक्भूत नहीं होता है, वह एक होता है। जब यह बात है तब सीधा ही कह लो ना कि द्रव्य और गुण अभिन्न हैं। अभिन्न तत्त्वको भिन्न बनाकर अभिन्न जैसा बनानेकी कसरत क्यों की जा रही है? इससे तो यह सिद्ध हुआ कि द्रव्य गुणका परस्परमें अभेद है, वे एक ही हैं। केवल व्यपदेश आदिकके व्यवहारसे भेदका व्यवहार चलता है।

समवायका स्वरूप—समवाय नाम है समवर्तित्वका। समवर्तीपनेको समवाय कहते हैं। समवर्तीपनेका अर्थ है सहवर्ती! जबसे आत्मा है तबसे ज्ञान है और जब तक आत्मा है तब तक ज्ञान है। जबसे का अर्थ है अनादिसे और जब तकका अर्थ है अनन्तकाल तक। शाश्वत यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। द्रव्य और गुणका एक अस्तित्वसे रचा जाना, यही सह-वृत्ति है। पदार्थ व पदार्थका स्वभाव ये दोनों सहवर्ती हैं, अनादि अनन्त हैं और यही समवाय है। जैनसिद्धांतमें इसीको समवाय कह लो और अन्य दार्शनिक भी अन्ततोगत्वा यही मानकर रहते हैं।

अनन्यस्वभावकी प्रतीति—वही एक वस्तु व उसका स्वभाव वस्तुत्वसे यद्यपि अभिन्न है तो भी संज्ञा प्रयोजनादिके भेदसे भेदव्यवहारमें आता है, और भेदव्यवहार किये जानेपर भी वास्तवमें वह अभिन्न है, एक है। यह कथन बहुत समयसे चल रहा है, और कोई भाई सुनते-सुनते ऊब भी गये होंगे, ऐसा यह कथन बहुत लम्बा क्यों चलाया जा रहा है और करीब-करीब बारबार वही-वही कथन है। ठीक है, मगर अपनेको धनी माननेकी अथवा कुटुम्बवान माननेकी जो भीतरमें बार-बार प्रतीति बन रही है जो कि मायारूप है, उससे तो नहीं ऊबते, यह तो परमार्थ निज ज्ञानस्वरूपकी प्रतीतिकी बात है। इसमें क्यों ऊब आये? वह तो भारी गल्ती है जो अपनेको वैभवशाली, धनी माना जा रहा है। अरे वे तो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। उनमें क्यों इतनी धुन बनायी जा रही है? उस भूलभरी धुनको काटनेके लिए यह ज्ञानकी अनन्यताकी प्रतीति समर्थ है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमय हूं, अन्यरूप नहीं। यही समवाय है, तादात्म्य है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गुण व गुणीकी अविभक्तप्रदेशता——जैसे इन दो अंगुलियोंके परस्परका जो मिलाप होता है उसका नाम तो संयोग है, और उस ही अंगुलीमें जो रूपका सम्बंध है, जो भी इसमें रंग है, जो गंधका सम्बंध है यह समवाय सम्बंध है। कहीं अंगुली अलग हो और उसका रंग अलग पड़ा हो ऐसा देखा है क्या ? तो जैसे अंगुलीमें रूपका समवाय सम्बंध है इस ही प्रकार इस आत्मामें ज्ञानका समवायसम्बंध है। कल्पनामें गुणगुणीका भेद करके फिर उसको अभिन्न बतानेका जो उपाय है उस ही का नाम समवाय कथन है। वह समवाययुत सिद्धमें नहीं बनता। पृथक् सिद्ध हो उसमें समवाय सम्बंध नहीं बताया जाता। समवाय तो अपृथक् वस्तु को जतानेका कारण होता है। द्रव्य और गुण ये सहवर्ती हैं, तदात्मा हैं, ऐसी समवाय वाली बात तो मान लो, पर आत्मा पृथक् है, ज्ञान पृथक् है, इनके समवायसम्बंधके कारण यह आत्मा ज्ञान किया करता है, यह अटपट बात यहाँ मानने योग्य नहीं है।

ज्ञानादि गुणोंके तादात्म्यका वर्णन—इस अंतराधिकारमें सर्वप्रथम बताया गया था कि ८–९ अधिकारोंसे जीवतत्त्वका वर्णन किया जायगा, उसमें यह तीसरा अधिकार है। यह चेतयिता है इन दो अंतराधिकारोंके बतानेके बाद यह उपयोग विशेषित है ऐसा यह तीसरा अंतराधिकार चल रहा है। इसमें उपयोगको आत्मासे अभिन्न बताया गया है। इस व्याख्यान जीवका ज्ञानगुणके साथ अनादि कालसे तादात्म्य सम्बन्ध कहा गया है और जैसे ज्ञानका आत्मासे तादात्म्य है इस ही प्रकार दर्शनका आनन्दका भी तादात्म्य है। जो अव्याबाध रूप स्वयं है, रागादिक दोषोंसे रहित है, उत्कृष्ट आनन्दका एक स्वभाव है ऐसे आनन्द आदिक अनन्तगुण भी इस आत्माके साथ तादात्म्यपनेको प्राप्त हैं।

आत्मप्रतीति—भैया ! अपने आत्माको अपने गुणोंसे ही अभिन्न रूपसे श्रद्धान् करना चाहिए, और समस्त रागादिक विकल्प व्यापारका त्याग करते हुए निरन्तर ध्यान करना चाहिए। हम अपने आपके सहजस्वरूपके ध्यानके प्रतापसे ही निराकुल रह सकेंगे। इस लोक में बाहर कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो हमें निराकुलताका कारण बने। उसका कारण यह है कि सभी परद्रव्य हैं, उनका परिणमन उनमें उनके अनुकूल होता है, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा मैं चाहूं तैसा बाह्यमें परिणमन हो ऐसा हो नहीं सकता और अनुकूल परिणमन होता नहीं तब यह जीव दुःखी हुआ करता है ? किसी भी बाह्यवस्तुसे घनिष्टता करनेमें निराकुलता उत्पन्न नहीं हो सकती है। एक अपने आपके आत्मस्वरूपमें बसे हुए इस शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावकी उपासना करनेमें ही हम आपका कल्याण है।

वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसा हि।
दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति ॥५१॥

Version 1